इकाई 1 : टॉमस हॉब्स

इकाई की संरचना

1.1 प्रस्तावना
1.2 उद्देश्य
1.3 जीवन चरित्र, कृतियाँ
1.4 मानव स्वभाव
1.5 प्रकृतिक अवस्था
1.6 प्रकृतिक अधिकार और प्रकृतिक नियम
1.7 आत्मरक्षा की प्रकृति
1.8 राज्य की उत्पत्ति तथा उसकी प्रकृति
1.9 प्रभुसत्ता
1.10 नागरिक कानून
1.11 राज्य और चर्च
1.12 व्यक्तिवाद
1.13 आलोचना
1.14 सारांश
1.15 शब्दावली
1.16 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
1.17 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
1.18 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
1.19 निबंधात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

अब हम इस इकाई 1 में हाब्स की राजनीतिक विचारों का अध्ययन करेंगे जिसमे हम यह देहेंगे कि किस प्रकार से हाब्स ने राज्य की उत्पत्ति का सामाजिक समझौते का सिद्धांत दिया है जिसमें उसने राज्य को एक साधन के रूप में स्थापित किया और उसे उपयोगिता के स्तर पर ले गया |

1.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त हम -

1.हाब्स की राजनीतिक विचारों के बारे में जान सकेंगे |

2.राज्य की उत्पत्ति का सामाजिक समझौते का सिद्धांत के बारे में जान सकेंगे |

3.व्यक्तिवादी विचार के सम्बन्ध में भी जान सकेंगे |

4.हाब्स के प्रकृतिक अवस्था और प्रकृतिक अधिकार के सम्बन्ध में भी जान सकेंगे |

1.3 जीवन चरित्र, कृतियाँ

हाब्स का नाम राज्य की उत्पत्ति के समझौतावादी विचारकों में प्रमुखता से लिया जाता है। इस सिद्धान्त का समर्थन सर्वप्रथम सोफिस्ट विचारकों ने किया था। हाब्स का जन्म 5 अप्रैल सन् 1588 को इग्लैण्ड के माजम्बरी नगर में हुआ था। इग्लैण्ड की ग्रह्युद्ध जनित स्थिति से डरकर वह फ्रान्स चला गया। यही पर उसने 'लेवियाथन' की रचना की। हॉब्स के विचारों को स्वागत इग्लैण्ड में 1650 में पुनः राजतन्त्र की स्थापना के बाद किया जाने लगा। क्योंकि हॉब्स अपनी लेखनी में अराजक स्थिति से निबटने के लिए राजतंत्र का समर्थन करता है। 1679 में उसका निधन हो गया।हाब्स के द्वारा निम्नलिखित पुस्कों की रचना गई है ----

Decive – 1642, De- corpora – 1642, Leviathan – 1651, Elements of Law – 1650,

1.4. मानव स्वभाव

- राज्य की उत्पत्ति के समझौतावादी सिद्धान्त के प्रतिवादन के क्रम में हॉब्स सर्वप्रथम मानव स्वभाव का चित्रण करता है। चूँकि गृहयुद्ध जनित और अराजक स्थिति को देखकर हॉब्स ने मानव स्वभाव के बुरे पक्ष का ही एहसास किया। इसलिए उसने मनुष्य को स्वभाव से असामाजिक प्राणी माना है। हाब्स मानता है मनुष्य अपनी दृष्टि और उसकी जरूरतों के अनुसार वस्तुओं को अच्छा या बुरा कहता है। मनुष्य का प्रत्येक व्यवहार स्वार्थ से प्रेरित होता है उसी से वह संचालित होता है। हाब्स के अनुसार प्रकृति ने सभी मनुष्यों को शारीरिक शक्तियों और बुद्धि में समान बनाया है। इसलिए किसी एक वस्तु की मांग कोई एक करता है तो उसी प्रकार के अन्य भी करते है। चूँकि वस्तुओं की संख्या सीमित है संघर्ष प्रारम्भ होता है। परिणामस्वरूप कभी न रूकने वाला संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है। इन झगड़ों के पीछे हॉब्स तीन प्रमुख कारण मानता है-

1- प्रतिस्पर्द्धा 2- पारस्परिक अविस्वास 3- वेभव

हॉब्स के अनुसार चूँकि मनुष्य स्वार्थी है। इसलिए पारस्परिक संबंधों के सहयोग को कोई स्थान नहीं है। यदि है तो वह उसी सीमा तक जहाँ तक वह स्वार्थ सिद्धि सहायक है।

1.5 प्रकृतिक अवस्था

मानव स्वभाव के चित्रण के उपरान्त हाब्स प्रकृतिक अवस्था की विवेचना करता है और वह कहता है कि प्रकृतिक अवस्था पूर्व सामाजिक अवस्था है। जिसमें जीवन में सहयोग न होकर हिंसा प्रधान है। यह अवस्था जिसकी लाठी उसकी भैंस की है जिसमें अपने हितों की सिद्धि के लिए बल प्रयोग में विश्वास करते है। इस प्रकार से यह अवस्था प्रत्येक का प्रत्येक के विरूद्ध युद्ध की अवस्था हो जाती है। इस अवस्था में सभी के पास अपनी रक्षा के लिए अपनी चालाकि और शक्ति है। जो कि सभी में समान है। इसलिए इस अवस्था में संघर्ष भया वह होता है। जहाँ किसी की कोई सम्पत्ति नहीं होती, न ही इस असुरक्षित वातावरण में कोई उद्योग धन्धे संभव हैं। इस प्रकार हॉब्स की प्रकृतिक अवस्था की तीन प्रमुख विशेषताएं दृष्टिगोचन होती है -

1- नैतिकता का अभाव

2- न्याय, अन्याय की धारणा का अभाव

3- अनवरत संघर्ष की अवस्था होने के कारण सम्पत्ति का अभाव।

यहाँ एक तथ्य यह स्पष्ट करना नितांत आवश्यक है कि हॉब्स इस प्रकार के किसी प्रकृतिक अवस्था के ऐतिहासिक का दावा नहीं करता हैं। उसका उद्देश्य यह स्पष्ट करना था कि राजशक्ति के अभाव में लोगों के जीवन में इसी प्रकार की असुरक्षा और समाज में संघर्ष की स्थिति बनी रह सकती है इसलिए ऐसा अराजक और हिंसक स्थिति (जो कि ग्रहयुद्ध जनित वातावरण में दिखाई देता है) के निरक्षण के लिए एवं शक्तिशाली राजसत्ता का होना आवश्यक है।

1.6 प्रकृतिक अधिकार और प्रकृतिक नियम

हॉब्स अपने समझौतावादी सिद्धान्त के प्रतिदान के क्रम में जिस प्रकृतिक अवस्था की कल्पना करता है उस अवस्था में प्रत्येक व्यक्ति के पास कुछ भी प्राप्त करने का समान प्रकृतिक अधिकार देता है। परिणामस्वरूप प्रत्येक के विरूद्ध प्रत्येक के मूह का कारण प्रकृतिक अधिकार ही होता है। परन्तु प्रकृतिक अवस्था में भी व्यक्ति सुरक्षित जीवन जीने की लालसा रखते हुए, बुद्धि द्वारा कुछ नियम बना लेते है। इन प्रकृतिक नियमों को हॉब्स शान्ति की धाराएं कहता है। हॉब्स ने प्रकृतिक नियम को इस प्रकार परिभाषित किया है- ''यह वह नियम है जो विवके द्वारा खोजा गया है, जिसके द्वारा मनुष्य के लिए वे कार्य प्रतिबंधित हैं जो उसके जीवन के लिए विनाशप्रद है और जिनके द्वारा उनको उन कार्यों को करने से कोई प्रतिबंध नहीं है, जो जीवन की रक्षा में सहयोग देते हैं। '' इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रकृतिक अधिकार प्रकृतिक अवस्था में अनवरत संघर्ष की स्थिति पैदा करते हैं तो , प्रकृतिक नियम, प्रकृतिक अवस्था के इस संघर्ष और अराजकता की स्थिति से उनकी रक्षा करते हैं। हॉब्स ने कुल 19 प्रकृतिक नियमों का उल्लेख किया है। जिनमें से प्रमुख इस प्रकार हैं-

1.7 आत्मरक्षा की प्रकृति

चूँकि हाब्स अपने राज्य की उत्पत्ति के समझौतावादी सिद्धान्त में प्रकृतिक अवस्था का चित्रण करता है। और वह प्रकृतिक अवस्था ऐसी है जिसमें प्रत्येक के विरूद्ध युद्ध जैसी है। ऐसी स्थिति में हॉब्स के सामने सर्वप्रमुख प्रश्न आत्मरक्षा का है। जैसा कि हम ऊपर स्पष्ट कर चुके है कि हाब्स ऐसी किसी प्रकृतिक अवस्था का ऐतिहासिक दावा तो नहीं करता है परन्तु यह स्पष्ट है कि उसके ऐसा कहने का तात्पर्य यह कि गृहयुद्ध जनित अवस्था या राज्यहीन व्यवस्था होने पर आत्मरक्षा का सवाल सर्वप्रमुख प्रश्न के रूप में सामने आता है। इसीलिए हाब्स ने आत्मरक्षा के सवाल पर विस्तार चर्चा की है। इसी क्रम में हॉब्स कहता है कि मनुष्य की मूलप्रकृति उसकी सुरक्षा की इच्छा है जिसके लिए वह सदैव प्रयत्नशील रहता है। तथा जो तथ्य इसमें सहायक होता है उसे वह अच्छा और जो सहायक नहीं होता है उसे बुरा कहता है।

इस प्रकार से स्पष्ट है कि मनुष्य अनवरत सुरक्षा की जरूरत महसूस करता हैं। इसी लिए वह अन्य सभी उपलब्धियाँ अर्जित करना चाहता है जिससे वह अपने सुरक्षा संबंधी चिन्ताओं का निराकरण कर सके। इसलिए किसी मनुष्य के लिए अन्य मनुष्यों का वहीं तक महत्व है जहाँ तक वह उसकी सुरक्षा संबंधी विषयों को सकारात्मक या नकारात्मक रूप से प्रभावित करता है।

हॉब्स मानव स्वभाव के दो पक्षों अभिलाषा और विवके की विस्तार से चर्चा करता है और कहता है कि अभिलाषा के कारण कोई मनुष्य सभी वस्तुओं को प्राप्त करना चाहता है, जिसकी चाहत अन्य लोग रखते है। चूँकि सभी शक्ति और बुद्धिमत्ता में समान है। इसलिए संघर्ष शुरू हो जाता है। जबकि विवेक के कारण मनुष्य आत्मरक्षा की प्रवृत्ति को महत्व देता है, जिससे वह शान्ति स्थापना पर बचन देता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि जहाँ संकीर्ण अभिलाषा संधर्ष को बढ़ाती है वही विवेकपूर्ण स्वार्थ शान्ति स्थापना के लिए आधार तैयार करने का कार्य करता है।

हॉब्स कहता है कि चूँकि समाज में लोग विवेक के नियमों के अनुसार कार्य नहीं करते है वरन वे क्षणिक उद्वेगों से प्रेरित होकर आचरण करते है इसलिए मनुष्य अपने उद्वेगों को नियंत्रित करने की स्थिति में नहीं होता है। इसलिए हॉब्स कहता है कि एक ऐसी सर्वशक्तिशाली, प्रभुत्व सम्पन्न सत्ता की आवश्यकता है जो मनुष्य को विवेक के अनुरूप् आचरण करने के लिए विवश कर सकें परन्तु ऐसा होने के लिए आवश्यक है कि शासन प्रभवशाली हो, क्योंकि प्रभावशाली शक्ति सम्पन्न शासन पर ही सुरक्षा निर्भर करती है।

1.8 राज्य की उत्पत्ति तथा उसकी प्रकृति

हॉब्स मानता है कि मनुष्य स्वभाव से स्वार्थी और संघर्षशील है। वह स्वभाव से शांतिपूर्ण रहने वाला नहीं है। इसलिए एक ऐसी सत्ता की आवश्कता होती होती हो जो उसे विवेक के अनुसार आचरण करने के लिए बाध्य कर सके तथा उल्लंघन पर दण्ड भी दे सके। हॉब्स मानता है कि ऐसी सत्ता केवल राज्य में ही संभव है जो सभी व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व करती है और सभी को विवेक के अनुसार आचरण करने के लिए बाध्य कहर सकती है। तथा इसका उल्लंघन करने वाले को दण्डित भी कर सकती है। अन्ततः हॉब्स यह कहता है कि यह राज्य अपने अस्तित्व में सामाजिक समझौते के फलस्वरूप आता है।

यह समझौता सभी व्यक्तियों के बीच इस प्रकार से होता है कि जैसे हर एक व्यक्ति ने हर एक व्यक्ति से कहा हो कि ''मैं इस व्यक्ति को या व्यक्तियों के समूह को अपना शासन, स्वयं कर सकने का अधिकार और शक्ति इस शर्त पर समर्पित करता हूँ कि तुम भी अपने इस अधिकार को किसी तरह (इस विशेष व्यक्ति या व्यक्ति समूह) समर्पित कर दो।

इस प्रकार सम्पूर्ण समुदाय एक व्यक्ति या समूह में संयुक्त हो जाता है सत्ता प्रयोग के संदर्भ में, इसे हाब्स राज्य (commonwealth) या लैटिन में सिविटास (Civitas) कहते है। हाब्स के अनुसार यही वह लेवियावन या महान देवता है जो हमें शान्तिपूर्ण और सुरक्षित जीवन प्रदान करता हैं इस प्रकार के समझौते से उत्पन्न सम्राट या प्रभुसत्ता (सर्वोच्चसत्ता) समझौते में कोई वचन नही देती है जिसका परिणाम यह होता है कि शासन व्यवस्था खराब होने के बाद भी जनमानस को शासन के विरूद्ध बोलने या विद्रोह का अधिकार नहीं होता है। क्योंकि यही शासन है जो शान्तिपूर्ण और सुरक्षित जीवन प्रदान करता है। जिसके विरूद्ध जाने का मतलब है प्रकृतिक अशान्त व्यवस्था में जाना।

उपरोक्त विवेचन के आधर पर हॉब्स के राज्य की उत्पत्ति के सामाजिक समझौते सिद्धान्त की निम्नलिखित विशेषताएं हैः-

1- हॉब्स का यह समझौता सिद्धान्त सामाजिक और राजनीतिक दोनों है यह सामाजिक इसलिए है कि सभी लोग अपन व्यक्तिगत मनोवृत्त को त्यागकर एक साथ सामाजिक बन्धन को स्वीकार करते है जबकि राजनीतिक इसलिए है कि इसके फलस्वरूप सर्वशक्तिमान राजसत्ता की उत्पत्ति होती है।

2- इस समझौते में सम्प्रभु शामिल नहीं है। इसलिए यह सरकारी समझौता नहीं है क्योंकि यह समझौता तो व्यक्तियों के मध्य होता है।

3- सम्प्रभु की सत्ता असीमित है अभर्यादित है क्योंकि वह समझौते अंग नहीं है वरन समझौते का परिणाम है वह किसी प्रकार की शर्तों से बधा नहीं है इसलिए वह निरंकुश भी है।

4- एक बार समझौता हो जाने पर उससे अलग होने का अधिकार किसी को नहीं है। इस समझौते के बाद किसी भी व्यक्ति के कोई अधिकार व स्वतंत्रता नहीं होती है क्योंकि समझौते के समय सभी ने अपने अधिकार और स्वतंत्रता का त्याग किया है। इसलिए उन्हें निरंकुश सत्ता के विरूद्ध किसी प्रकार के दावे को रखने का कोई अधिकार नहीं है।

5- समप्रभुत्ता विभाजित नहीं है। क्योंकि यह समझौते का परिणाम है वह सम्प्रभु चाहे एक व्यक्ति हो या व्यक्तियों का समूह।

7- चूँकि सम्प्रभुत्ता अभर्यादित, अविभाज्य है। इसीलिए वह विधियों का स्रोत भी है। उसका आदेश ही कानून है। किसी भी विशेष पर अन्तिम निर्णय लेने का अधिकार सम्प्रभुसत्ता को ही है। युद्ध की घोषणा और सन्धि करने का अधिकार केवल इसी को है।

यद्यपि हॉब्स ने सम्प्रभुसत्ता को अमर्योदित और निरंकुश सत्ता सम्पन्न बताया। जिसके विरूद्ध जाने का अधिकार जनमानस को नहीं है परन्तु कुछ स्थितियों में हॉब्स ने राजा के आदेश की अवहेलना करने का अधिकार प्रदान करता है। हॉब्स कहता है कि यदि राजा व्यक्ति को अपने आपको मारने, घायल करने या जीवन रक्षक उपमाओं को प्रयोग करने का आदेश दे तो ऐसी आज्ञाओं का उल्लंघन करने का अधिकार है। क्योंकि शासन को जनमानस सुरक्षा की आवाश्यकता की पूर्ति के लिए ही स्वीकार करते है। इस प्रकार से हॉब्स अपने राज्य के सिद्धान्त की चरमव्याख्या में व्यक्तिवादी हो जाता और राज्य को उपयोगिता के स्तर पर ले जाता है जो कि कृतिम संख्या है, जिसे जनता ने अपनी आत्म रक्षा के लिए बनाया है।

1.9 प्रभुसत्ता

हॉब्स के प्रभुसत्ता के सिद्धान्त को समझने के लिए यह आवश्यक है उसके समझौते वादी सिद्धान्त को समग्रता में समझने का प्रयास किया जाए। यहाँ यह पुनः बताना आवश्यक है कि चूँकि समझौते सिद्धान्त में जिस अराजक प्रकृतिक अवस्था की कल्पना हॉब्स करता है। उससे निजात पाने के लिए सभी ने एक दूसरे से किसी व्यक्ति या व्यक्ति समूह को अपने ऊपर शासन करने की सत्ता सौंप दी। इसके फलस्वरूप सम्प्रभुसत्ता की उत्पत्ति होती है जो स्वयं समझौते का अंग न होने के कारण किसी प्रकार से मर्यादित नहीं है। उस पर किसी प्रकार को कोई बन्धन नहीं है इस प्रकार से स्पष्ट है कि हॉब्स सम्प्रभुसत्ता का प्रबन्ध समर्थक था उसका सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न शासक पूर्णतः निरंकुश है। उस पर किसी भी प्रकार की कोई मर्यादा नहीं है। उसने उन सभी मर्यादाओं को समाप्त कर दिया जिसे बोंदा ने सम्प्रभुता पर आरोपित किये थे।

हॉब्स के अनुसार सम्प्रभुता सभी कानूनों का स्रोत है। क्योंकि वही शान्ति व्यवस्था और सुरक्षा के लिए उत्तरदायी हैं। क्योकि ऐसी सत्ता समझौते के दौरान लोगों ने उसे दी है। सम्प्रभुत्ता निरपेक्ष है उसे जनसाधारण पर असीमिति अधिकार प्राप्त है जो किसी भी मानवीय शक्ति से मयादित नहीं है। यहाँ यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि वह प्रकृतिक कानूनों के भी अधीन नहीं क्योंकि वे तो कानून न होकर विवेक के आदेश है।

हॉब्स ने अपने सम्प्रभुता के सिद्धान्त शक्ति के विभाजन तथा नियंत्रण और सन्तुलन के सिद्धान्त को कोई महत्व नहीं पदान किया है क्योंकि वह मानता है कि सभी सत्ता का स्रोत स्वयं सम्प्रभु है तो सत्ता का विभाजन कैसे।

हॉब्स ने, बोंदा द्वारा सम्प्रभुता पर सम्पत्ति संबंधी अधिकार का बंधन अस्वीकार किया क्योंकि सम्पत्ति का सृजनहार भी वह सम्प्रभुता को ही मानता है क्योंकि बिना शांति और सुरक्षा के सम्पत्ति का सृजन संभव नहीं है। इसलिए संपत्ति के संबंध में कानून निर्माण का अधिकार भी सम्प्रभु को ही है।

इसके आगे हॉब्स कहता है कि सम्प्रभु के अधिकार बदले नहीं जा सकते (अपरिवर्तनीय) किसी को दिये नहीं जा सकते (अदेय) इनका विभाजन नहीं किया जा सकता (अभिभाज्य) है। ऐसा करना सम्प्रभुता को नष्ट करना होता है जिसका परिणाम होगा पुनः असुरक्षा का वातावरण जो कोई भी नहीं चाहेगा। अतः उपरोक्त विवेचन के आधार पर हम यह कह सकते है कि हॉब्स के सम्प्रभुता के सिद्धान्त में विरोधामास है। वह यह कि एक तरफ तो वह सम्प्रभुता को अभिभाज्य, अमर्यादित और हस्तान्तरणीय बताता है तो दूसरी तरफ वह जनमानस को सम्प्रभु के ऐसे आदेश का उल्लंघ करने की शक्ति प्रदान करता है जो उसकी आत्मरक्षा के विपरित है। साथ ही यह भी दुविधा है कि यह निर्णय कौन करेगा कि अब ऐसी स्थिति आ गई है। जब विरोध किया जा सकता है।

बोंदा की भॉति हॉब्स ने भी सम्प्रभुता के निवास के आधार पर ही शासन प्रणाली का वर्गीकरण किया है।

प्रभुसत्ता का निवास	शासन का स्वरूप
एक व्यक्ति में	राजतंत्र
कुछ व्यक्तियों में	कुलीनतंत्र
सब लोगों में	लोकतंत्र

हॉब्स कहता है कि मिश्रित एवं सीमित शासन प्रणाली की बात करना व्यर्थ है क्योंकि प्रभुसता अभिभाज्य अपरिवर्तनीय और उद्देश्य है।

यहाँ पर यदि हम हॉब्स और बोदा के प्रभुसत्ता सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन करते हैं तो यह पाते हैं कि बोंदा ने अपने प्रभुसत्ता सिद्धान्त में प्रभुसत्ता पर कई प्रतिबंध आरोपित किये है। जैसे ईश्वरीय नियम, प्रकृतिक नियम और राज्य के मूलभूत नियम। परन्तु हॉब्स ने अपने सम्प्रभु पर ऐसे किसी प्रतिबंध को आरोपित नहीं किया है जो आरेपित किये भी है वह बंधन वैधानिक नहीं है। इस प्रकार से स्पष्ट है कि बोंदा के सम्प्रभु की तुलना में हॉब्स का सम्प्रभु अधिकार सम्पन्न है।

1.10 नागरिक कानून

हॉब्स कानून को सम्प्रभु का आदेश कहता है। और इन विधियों में को ही परम्परा या रीति प्रदान नहीं है, प्रधान है तो वह है सम्प्रभु की इच्छा। यही नहीं उस सम्प्रभु में अपनी इच्छा से निर्मित कानून को पालन करने की शक्ति भी निहित है। इसकी इच्छा से निर्मित किसी भी विधि को नैतिक मानदण्डों पर नहीं परखा जा सकता है। क्योंकि ये विधियाँ ही व्यवहार की मानदण्ड तय करती है।

हॉब्स ने विधि के दो प्रकार स्वीकार किये है

1- वितरणात्मक या निषेधात्मकः- इसके अंतर्गत नागरिकों के वैधानिक या अवैधानिक कार्यों का विवरण प्रस्तुत किया जाता है।

2- अज्ञात्मक या दण्डात्मकः- इसके अंतर्गत एक तरफ निर्देश होते है जिनका पालन अनिवार्य होता हे जिनके उल्लंघन की दशा में दण्ड का प्रावधान भी होता हैं।

हॉब्स प्रकृतिक विधि और विधि में अन्तर भी करता है। वह कहता है कि विधि तो सम्प्रभु का आदेश है सम्प्रभु ही ऐसी विवियों का स्रोत भी है। और व्याख्याकार भी है। जबकि प्रकृतिक विधि विवेक का आदेश है। इसके पीछे कोई दण्डात्मक शक्ति नहीं होती जबकि विधि के पीछे दण्डात्मक शक्ति होती है जिसका पालन न किया जाने की स्थिति में उल्लंघनकर्ता, उल्लंघन कही मात्रा तक दण्ड का पात्र होगा।

यहाँ एक सवाल उठता है कि यदि सम्प्रभु का आदेश ही कानून है जिसका उल्लंघन कोई नहीं कर सकता यह आज के लोकतान्त्रिक युग में कहाँ तक सम्भव है। इसका उत्तर शायद नहीं ही होगा। क्योंकि किसी भी लोकतान्त्रिक देश में अन्तिम सत्ता में निहित होती है। जिसे नियतकान्त्रिक चुनाव के आधार पर प्रभुसत्ता के परियोग करने वाले को बदलने का अधिकार प्राप्त होता है।

इसके साथ ही हॉब्स सम्प्रभु के उन आदेशों की अवहेलना करने का अधिकार जनता को प्रदान करता है। जो उसकी आत्मरक्षा के विरूद्ध हो।

इसके आगे हॉब्स सम्प्रभु को अधिक कानूनों के निर्माण न करने की बात करता है। क्योंकि इससे उनके अनुपालन को सुनिश्चित करने में अनेकानेक समस्या उत्पन्न होगी इस प्रकार हम देखते है कि एक तरफ कानून को सम्प्रभु का आदेश मानता है, जिसे सम्प्रभु सद्विवेक की अभिव्यक्ति कहता तो दूसरी तरफ आत्मरक्षा हेतु तलवार उठाने तक की अनुमति जनता को देता है। इस प्रकार हॉब्स का सम्प्रभुता सिद्धान्त में निरपेक्षता का पुट जितना दिखाई देता है, उतना है नहीं। हॉब्स के सम्प्रभुता सिद्धान्त में जो निरंकुशता दिखाई देती है वह भी उपयोगिता के कारण है और उपयोगिता है आत्मरक्षा जनमानस। इस प्रकार हॉब्स के इस निरंकुश प्रभुसत्ता में उदारवादी तत्व निहित प्रतीत होते है।

1.11 राज्य और चर्च

जैसा कि हम ऊपर यह स्पष्ट कर चुके है कि हॉब्स सर्वशक्तिशाली, प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य का समर्थन करता है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह है कि वह राज्य के समान्तर किसी भी ऐसी सत्ता को स्वीकार नहीं कर सकता जो राज्य सत्ता को चुनौती दे। जैसा कि तत्कालीन समय में उसने यह देखा कि पादरी और पोप के दावे ऐसे थे कि यदि उन्हें छुट दी जाती तो वे धार्मिक क्षेत्र से बाहर जाकर शासकों को पदच्युत करने की सत्ता भी अपने हाथ में केन्द्रित करना चाहते थे। इसलिए हॉब्स ने स्पष्ट रूप से कहा है कि चर्च, राज्य के समकक्ष सत्ता न होकर उसके अधीन है। क्योंकि उस समय वह देख रहा था कि किस प्रकार से तत्कालीन पादरी और पोप ने समाज में अव्यवस्थाएं फैला रखी थी।

इसलिए हॉब्स धार्मिक सत्ता को, राजसत्ता के अधीन मानता है राज्य में सम्प्रभु ही सर्वोच्च आध्यात्मिक सत्ता भी है, विशेय उसकी अनुकम्पा से ही आध्यात्मिक सत्ता प्राप्त करते हैं। हॉब्स इसके आगे कहता है कि जब निर्णय का आधार बुद्धि न होकर आलौकिक अनुभूति हो तो समाज में अराजकता का वातावरण होता है। इसीलिए हॉब्स ने चर्च को अंधकार का राज्य कहा है।

हॉब्स कहता है कि धर्म का आधार अदृष्ट शक्ति के प्रतिमय है। इसका फायदा आध्यात्मिक जगत उठाता है। अतः राज्य का दायित्व है कि अपने लोगों की इस भय की स्थिति से रक्षा करें। इस प्रकार हॉब्स ने चर्च को पूरी तरह से राजसत्ता के अधीन कर दिया है। यहाँ पर मार्सिलियों ऑफ पडुवा का जिक्र करना आवश्यक है कि इन्होंने आध्यात्मिक सत्ता और लौकिक सत्ता को पृथक कर, चर्च को नागरिक शासन के अधीन करने की जिस प्रक्रिया

को आरम्भ किया था, हॉब्स ने उसे अंजाम तक पहुँचा दिया। अन्ततः हम कह सकते है कि हॉब्स ने आध्यात्मिक जगत को पूरी तरह से कानून और राज्य के अधीन कर दिया है।

1.12 व्यक्तिवाद

अभी तक हमने जितना अध्ययन किया है। उसको देखकर यह लगता है कि हॉब्स निरंकुश राजसत्ता का समर्थन करता है। परन्तु जब इसके आगे हम देखते है कि क्यों वह निरंकुश राजसत्ता का समर्थन करता है तो स्पष्ट होता है कि वह व्यक्तिवादी भी है क्योंकि ऐसा समर्थन वह व्यक्ति के लिए करता है उसकी सुरक्षा के लिए करता हैं। अर्थात अपने सिद्धान्त प्रतिवादन में मूलरूप से वह व्यक्तिवादी है और इस व्यक्ति की सुरक्षा के लिए राज्य को उपयोगिता स्तर पर ले जाता है।

हॉब्स ने चिन्तन में व्यक्ति अलग-अलग हैं जिनके हितो में टकराहट भी है। इनमें सामंजस्य बैठाने के लिए राजसत्ता का उद्भव होता है, समझौते के फलस्वरूप वह हित है आत्मरक्षा के अधिकार। इस अधिकार की रक्षा के लिए वह व्यक्ति को राज्यसत्ता के विरोध का अधिकार भी प्रदान करता है।

इस प्रकार जब हॉब्स राज्य को समझौते का परिणाम और कृत्रिम मानता है, जिसका दायित्व जनमानस की रक्षा करना है तो वह प्रबल व्यक्तिवादी हो जाता है। हॉब्स पहला विचारक है जिसने व्यक्ति के आत्मरक्षा के अधिकार को सर्वपरि महत्व दिया, और राज्य का दायित्व इस अधिकार की रक्षा करना माना, जो राज्य की उत्पत्ति का कारण और अस्तित्व का आधार है। इस प्रकार व्यक्ति अपने आप में साध्य है और राज्य साधन।

1.13 आलोचना

हॉब्स एक ऐसा विचारक था जिसे अपने समय में समाज और सत्ता के सभी पक्षों के आलोचना का शिकार होना पड़ा। उसकी आलोचना निरंकुश राजतंत्र वादियों के साथ लोकतंत्र वादियों ने भी की। साथ ही धार्मिक चिन्तकों ने भी आलोचना की। क्लेरेडन ने तो हॉब्स की पुस्तक को जलाकर यहाँ तक कहा कि ''मैंने कभी कोई ऐसी पुस्तक नहीं पढ़ी जिसमें इतना राजद्रोह विश्वासघात और धर्मद्रोह भरा हो।''

निम्न आधार पर हॉब्स की आलोचना की जाती हैः-

1.हॉब्स के चिन्तन की एक प्रमुख आलोचना उसके द्वारा मानव स्वभाव के विकृत स्वरूप के चित्रण के कारण की जाती है। क्योंकि उसने मनुष्य को स्वार्थी और झगड़ालू कहा है। जबकि मनुष्य में दया, प्रेम, सहयोग, त्याग आदि सामाजिक गुण भी पाये जाते हैं।

2.हॉब्स का समझौता सिद्धान्त भी भ्रम उत्पन्न करता है। एक तरफ तो मनुष्य को झगड़ालू और स्वार्थी कहता था जिससे प्रकृतिक अवस्था संघर्ष की अवस्था हो जाती है, फिर विवेक लोगों को प्रकृतिक अवस्था से मुक्ति के लिए समझौते के लिए तैयार करता है। फिर एक अन्य दुविधा कि समझौते में सम्प्रभु शामितन नहीं है जबकि सैद्धान्तिक दृष्टि से समझौता के लिए दो पक्ष होते हैं।

3.एक तरफ हॉब्स प्रकृतिक अवस्था की अराजकता से निराकरण के लिए निरंकुश राजसत्ता का समर्थन करता है तो दूसरी तरफ व्यक्ति को आत्मरक्षा के विरूद्ध किसी भी आदेश के विरूद्ध जाने का अधिकार भी देता है।

अभ्यास प्रश्न

१.हाब्स का हाब्स का किस सन में हुआ ?

२.हाब्स ने 'लेवियाथन' की रचना कहाँ पर की की।

, ३.Elements of Law पुस्तक की रचना किसने की ?

1.14 सारांश

उपरोक्त विवेचन के आधार पर हम यह कह सकते है कि हाब्स ने राज्य के उत्पत्ति के दैवीय सिद्धांत के विपरीत ,राज्य की उत्पत्ति का सामाजिक समझौता सिद्धान्त दिया है जिसमें राज्य अब एक साधन के समान है जो व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा के लिए लोंगों ने आपसी समझौते से बनाया है | जिसका यह संप्रभु समझौते में शामिल न होने के कारण सभी प्रकार की मर्यादाओं से मुक्त है | लेकिन इसी के साथ हाब्स यह भी कहता है यदि राज्य व्यक्ति को ऐसे कार्य करने के आदेश देता है जो उसके अस्तित्व के विपरीत है या उसे संकट में डालता है तो व्यक्ति को राज्य का विरोध भी करने का अधिकार है क्यों कि राज्य के निर्माण का उसका प्रमुख ध्येय आत्मरक्षा ही है |इस प्रकार से हाब्स व्यक्तिवादी विचारक के रूप में सामने उभरकर आता है |

1.15 शब्दावली

प्रकृतिक अवस्था - यह समाज हीन और राज्यहीन अवस्था है |

1.16 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

१.1588 २.फ्रान्स ३.हाब्स

1.17 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.राजनीति दर्शन का इतिहास-जॉर्ज एच0 सेबाइन

2.पॉलिटिकल थ्योरीज, एनसिएन्ट एण्ड मेडीवल-डनिंग

3.मास्टर्स ऑफ पॉलिटिकल थॉट- डब्ल्यू0 टी0 जोन्स

4.पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास-डा0 प्रभुदत्त शर्मा

5.राजनीतिक चिन्तन की रूपरेखा-ओ0पी0 गाबा

1.18 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1.राजनीति-कोश- डा0 सुभाष कश्यप एवं विश्वप्रकाश गुप्त

2.पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तक- आर0एम0 भगत

1.19 निबंधात्मक प्रश्न

1.हाब्स के राज्य के उत्पत्ति के सिद्धांत की विवेचना कीजिये |

2.हाब्स एक व्यक्तिवादी विचारक था |इस कथन की व्याख्या कीजिये |

इकाई 2 जॉन लॉक

इकाई की संरचना

2.1 प्रस्तावना
2.2 उद्देश्य
2.3 जॉन लॉक के विचारों की पृष्ठभूमि
2.4 लॉक के सहिष्णुता सम्बन्धी विचार
2.5 लॉक का अनुभववाद
2.6 मनुष्य स्वभाव सम्बन्धी लॉक के विचार
2.7 प्रकृतिक अवस्था का चित्रण
2.8 लॉक का सामाजिक संविदा का सिद्धान्त
2.9 हॉब्स लॉक एक तुलनात्मक अध्ययन
2.10 लॉक के शासन सम्बन्धी विचार
2.11 सरकार के कार्य
2.12 व्यक्तिवाद
2.13 सम्पत्ति का अधिकार
2.14 लॉक के विचारों की आलोचना
2.15 सारांश
2.16 शब्दावली
2.17 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
2.18 संदर्भ ग्रन्थ सूची
2.19 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
2.20 निबंधात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

इसके पहली की इकाई में हम हॉब्स के समझौतावादी राजनीतिक विचारों का अध्ययन कर चुके है। आपने यह देखा कि हॉब्स के अनुसार राज्य किसी देवीय शक्ति से उत्पन्न न होकर के समजिक आपसी समझौते का परिणाम है। जिसे आत्मरक्षा के लिए बनाया गया है।

इस इकाई में हम समझौतावादी विचारक लॉक के राजनीतिक विचारों का अध्ययन करेंगें। जिससे स्पष्ट होगा कि लॉक भी राज्य को समझौते का परिणाम मानता है। साथ ही यह भी देखेंगें कि हॉब्स के विपरित लॉक ने मानव स्वभाव के सकारात्मक पक्षों पर बल दिया है।

2.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप समझ सकेंगें कि

1. लॉक हॉब्स के विपरित मानव के उदार पक्षों पर बल देता है।

2. आप जान सकेगें कि लॉक उदारवादी प्रजातात्रिक व्यवस्था का समर्थक है।

3. लॉक ने प्रकृतिक अवस्था को शान्ति, सदभावना पारस्परिक सहायता ओर संरक्षण की अवस्था बताया है।

4. सरकार का प्रमुख कार्य प्रत्येक सदस्य के जीवन स्वतन्त्रता और सम्पत्ति की रक्षा करना है।

2.3 जॉन लॉक के विचारों की पृष्ठभूमि

1642 ई0 में इंग्लैण्ड का गृह युद्ध इस कारण आरम्भ हुआ क्योंकि तत्कालीन राजा चार्ल्स प्रथम अपने शाही अधिकारों पर ब्रिटिश ससंद के किसी भी प्रकार के अंकुश को स्वीकार करने के लिए तत्पर नहीं था। यह विवाद राजा की शक्तियों और संसद की शक्तियों के बीच था। चार्ल्स प्रथम की हत्या, राजतंत्र का पतन, कॉमवैल की अध्यक्षा में कामनवैल्थ की स्थापना, आलिवर कामवैल का निरंकुश गणंतंत्रीय शासन कॉमवैल का पतन तथा चार्ल्स द्वितीय को राजा बनाकर पुनः इंग्लैण्ड में राजतन्त्र की स्थापना, जेम्स द्वितीय को राजा बनाकर उसके विरूद्ध पुनः जनाक्रोश और विद्रोह तथा राजा जेम्स द्वितीय को विस्थापित कर उसके स्थान पर आरेन्ज के प्रिंस विलियम को इंग्लैण्ड की राजगद्दी पर बिठाया जाना, ये इन 47 वर्षो की प्रमुख घटनाएँ थी। 1688 ई0 की रक्तहीन क्रांन्ति के साथ प्रिंस विलियम को इंग्लैण्ड का राजा बनाएं जाने की घटना के साथ राजा निरंकुश शक्तियों का अन्त तथा

ससंद की शक्तियों का उदय हुआ। राजनीतिक चिन्तन के इतिहास के विधार्थियों के लिए याद रखने योग्य यह तथ्य है कि इस गृह यृद्ध की घटनाओं में हॉब्स का झूकाव राजतन्त्र एवं निरंकुश शासनतन्त्र के पक्ष में था इसके विपरित, लॉक संसदीय दल के समर्थक के रुप में रक्तहीन क्रांन्ति का समर्थन करता है। 1688 ई0 की रक्तहीन क्रांन्ति के जिन राजनीतिक दर्शन में आदर्शो की प्रस्थापना की थी। लॉक ने इन्ही आदर्शो का प्रतिपादन अपने राजनीतिक दर्शन में किया है। ऐसा लगता है। मानों लॉक रक्तहीन क्रांन्ति का समर्थन कर्ता दार्शनिक है। लॉक के राजनीतिक चिन्तन का सार यही है कि शासक की शक्तियाँ न्यास के समान है अतः शासन का कार्य समाज द्वारा सौपी हुई सत्ता रूपी धरोहर की रक्षा करना है।

2.4 लॉक के सहिष्णुता सम्बन्धी विचार

लॉक व्यक्ति की धार्मिक स्वतन्त्रता का प्रबल समर्थक था। उसकी मान्यता थी कि राज्य अथवा किसी व्यक्ति/व्यक्ति समूह को दूसरे व्यक्ति की धार्मिक स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। लॉक यह तर्क प्रस्तुत करता है कि मानवीय ज्ञान न तो जन्मजात और न ही यह ईश्वरीय रहस्योदघाटन है। मानवीय ज्ञान मनुष्य के विचारों की उपज है जन्म के समय मनुष्य का मस्तिष्क उस साफ सुधरी स्लेट के समान है जिस पर कुछ भी लिखा नहीं गया है। किन्तु अनुभव से उत्पन्न होने वाले विचारक था जो यह मानता था कि मनुष्य के विचार जन्मजात नहीं होते अनुभवों के साथ पेदा होते है। सत्ता को यह अधिकार कदापि नहीं हो सकता कि वह अपने विचारों को सही अथवा नैतिक दृष्टि से श्रेष्ठ मानकर दूसरों के ऊपर अपने विचारों को थोपे। सत्ता को सहिण्णु होकर दूसरों के विचारों का दमन नहीं करना चाहिए। लॉक के धार्मिक सहिष्णुता सम्बन्धी विचारों की पृष्ठिभूमि में ईसाई धर्म के विवाद थे जिनमें कुछ धार्मिक विचारकों ने यह प्रतिपादित किया था। कि जो व्यक्ति धर्म की आज्ञाओं का पालन नहीं करते, अथवा जो धर्म द्रोह का माप करते है, ऐसे व्यक्तियों को राज्य द्वारा दंडित किया जाना चाहिए। लॉक के अनुसार राज्य की शक्ति का उद्देश्य लौकिक शक्ति एवं सुव्यवस्था की स्थापना करना तथा सम्पत्ति की रक्षा करना, है न कि धर्म की स्थापना करना अथवा उसकी रक्षा करना राजा अपनी शक्ति को समाज के सदस्यों से प्राप्त करता है। इन विचारों से स्पष्ट होता है कि लॉक के धर्म सम्बन्धी विचार उदारवादी है। सामाजिक एवं धार्मिक जीवन में सहिष्णुता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के कारण लॉक को राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में उदारवादियों की अन्तिम पंक्ति में स्थान दिया जाता है।

2.5 लॉक का अनुभववाद

लॉक के विचारों का स्वरूप अनुभववादी है। वह ज्ञान का अनुभव जन्य मानता है। उसके ज्ञान सम्बन्धी विचारों का अध्ययन करने से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि वह मनुष्य के ज्ञान को जन्मजात नहीं मानता उसकी यह मान्यता है कि मानवीय मस्तिष्क में कोई जन्मजात प्रयत्न नहीं होते। जन्म के समय मानवीय मस्तिष्क साफ होता है जिस पर कुछ भी अेकित नहीं होता। मनुष्य को ज्ञान ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त होता है। ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त अनुभव मनुष्य के मस्तिष्क में प्रवेश करता है जो उसमें चेतना एवं प्रतिबम्ब पैदा करतें है। मस्तिष्क में उनके विश्लेषण की तुलना करने की तथा उनको एकीकृत करने की प्रक्रिया होती है। इस प्रक्रिया में विचारों की उत्पत्ति होती है। संक्षेप में लॉक के मतानुसार मनुष्य के विचारों का जन्म अनुभवों से होता है। विचारों को ज्ञान नहीं कहा जा सकता हाँ ये ज्ञान के साधन अवश्य है। ज्ञान का जन्म तब होता है जब मस्तिष्क द्वारा अनेक विचारों की तुलना करके सहमति अथवा इसके विपरित असहमति व्यक्त की जाती है। ज्ञान को अनुभव जन्म मानने के कारण लॉक को एक अनुभववादी विचारक माना जाता है।

2.6 मनुष्य स्वभाव सम्बन्धी लॉक के विचार

हॉक्स के अनुसार मनुष्य प्रकृति से ही स्वार्थी, झगड़ालू और आसामाजिक प्राणी है। किन्तु लॉक की मनुष्य स्वभाव सम्बन्धी मान्यताएँ हॉक्स से सर्वथा भिन्न है वह मानता है कि मनुष्य में स्वाभाविक अच्छाई होती है। प्रकृति ने मनुष्य को एक महान गुण से विभूषित किया है और वह गुण है मनुष्य की विवेकशीलता मनुष्य में सहयोगी भवना होती है, वह सामाजिक प्राणी है। प्रकृति ने ही मनुष्य को शक्ति-प्रिय, नीति नियमों का आस्थावान तथा एकता और अच्छाई की चाह करने वाला प्राणी बनाया है। इसके अतिरिक्त, प्रकृति से ही मनुष्यों में समानता होती है। प्रकृतिक अवस्था समानता की अवस्था है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति की शक्ति एवं उसका क्षेत्राधिकार पारस्परिक होता है। तथा जिसमें किसी के पास दूसरे से अधिक शक्ति नहीं है। लॉक के मतानुसार मनुष्य की समानता शारीरिक अथवा मानसिक समानता नहीं है। अपितु वह नैतिक दृष्टि से दूसरे के समान होता है। मनुष्य स्वभाव सम्बन्धी लॉक के ये विचार उसके राजनीतिक विचारों के मूल में अवास्थित है।

2.7 प्रकृतिक अवस्था का चित्रण

हमें ज्ञात है कि हॉब्स ने प्रकृतिक अवस्था को एकाकी, दीन हीन कुत्सित, जंगली एवं क्षणिक बताया है। इसके विपरित लॉक ने प्रकृतिक अवस्था को शान्ति सदभावना, पारस्परिक सहायता और संरक्षण की अवस्था बताया है। सामाजिकता मनुष्य का वह मूल गुण है जिसके कारण वह प्रकृतिक अवस्था में अन्य सदस्यों के साथ रहता है एवं सहयोग करता था। प्रकृतिक अवस्था में मनुष्य में भ्रातृत्व भवना एवं न्याय की भवना थी। उस अवस्था में मनुष्य निश्छल था और इसीलिए सुखी था। प्रकृति ने उन्हें समानता और स्वतन्त्रता का आशीर्वाद प्रदान किया था। अतः कोई किसी की मर्जी पर निर्भर नहीं करता था। मनुष्य अपने जीवन का यापन एवं अपनी धन सम्पत्ति का उपयोग स्वेच्छानुसार करता था। मनुष्य में मैत्री न्याय और सदभावना के गुण थे। लॉक का कथन है कि "प्रकृतिक अवस्था को शासित करने वाला एक प्रकृतिक कानून है और उस कानून को हम विवेक कहते है।

प्रकृतिक अवस्था का चित्रण करते हुए लॉक बताता है कि उस अवस्था में मनुष्य को कुछ नैसर्गिक अधिकार प्राप्त थे। लॉक की नैसर्गिक अधिकारों की धारणा का आशय यह है कि इन अधिकारों का निर्माता अथवा दाता राज्य नहीं है। यह अधिकार नैसर्गिक है। प्रकृति ने ही मनुष्य को कुछ जन्मजात अधिकार प्रदान किये है। प्रकृतिक अधिकारों की धारणा को प्रस्तुत करने में लॉक का स्पष्ट मन्तव्य यह स्थापित करना है कि राज्य उत्पत्ति के पूर्व भी

व्यक्तियों के अधिकार नैसर्गिक एवं राज्य से पूर्व है अतः राज्य की सत्ता इन अधिकारों का अपहरण नहीं कर सकता। लॉक के राजदर्शन की यह मूल मान्यता है कि राज्य की स्थापना व्यक्ति सिर्फ इसलिए करते है जिससे कि राज्य उनके अधिकारों की रक्षा करे।

लॉक के अनुसार इस अवस्था में प्रकृतिक विधि का शासन था जिसकी छत्रछाया में विवेक और समानता स्थापित थी तथा जहाँ प्रत्येक व्यक्ति अपने प्रकृतिक अधिकारों का स्वामी था। वह यह भी स्वीकार करता है कि दूसरे व्यक्ति के भी ऐसे ही प्रकृतिक अधिकार थे जिनका सम्मान किया जाता था। अतः प्रकृतिक अधिकार थे जिनका सम्मान किया जाता था अतः प्रकृतिक अवस्था में स्वतन्त्रता थी, स्वच्छन्दता नहीं।

यदि प्रकृति अवस्था इतनी अच्छी थी तब प्रश्न का उठना स्वाभाविक है कि उस अवस्था में रहने वाले लोगों ने उसे छोड़ कर राज्य की स्थापना क्यों की ? लॉक ने इसका उत्तर दिया है कि प्रकृतिक अवस्था में प्रत्येक मनुष्य प्रकृतिक नियम की अपने हित के अनुसार व्याख्या करता था जिसके परिणाम स्वरूप प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार था कि वह व्यवस्था अथवा कानून का उल्लंघन करने वालों को दंडित कर सके। प्रकृतिक अवस्था में दो व्यक्तियों के महत्व विवादों का निपटारा वह व्यक्ति स्वंय अपनी धारणानुसार कर लेता था, जबकि सही न्यायपूर्ण अवस्था में ऐसे विवादों का निपटारा तीसरी निष्पक्ष न्यायिक सत्ता के द्वारा किया जाना आवश्यक है। किन्तु प्रकृतिक अवस्था में तीसरी निष्पक्ष सत्ता का अभाव था। लॉक के विचारानुसार प्रकृतिक अवस्था में तीन प्रमुख असुविधाएँ थी।

1. प्रकृतिक अवस्था में प्रकृतिक विधि की कोई स्पष्ट परिभषा नहीं थी, अतः प्रत्येक व्यक्ति अपने मन के अनुकूल कानून को परिभाषित करता था।

2. प्रकृतिक विधि की स्पष्ट परिभाषा करने वाले किसी निष्पक्ष न्यायधीश का अभाव था।

3. ऐसी सत्ता का अभाव था जो प्रभावशाली रुप से उस विधि को लागू कर सके। क्योंकि प्रकृतिक कानून के क्रियान्वयन का अधिकार प्रत्येक व्यक्ति में निहित था इसके परिणामस्वरुप प्रत्येक व्यक्ति अपने विवाद का स्वंय ही न्यायकर्ता बन जाता है। जिससे समाज का सहयोग टुटता है।

2.8 लॉक का सामाजिक संविदा का सिद्धान्त

सामाजिक संविदा:- प्रकृतिक अवस्था की असुविधाओं से मुक्ति पाने का मार्ग सामाजिक संविदा द्वारा प्राप्त होता है। लॉक के शब्दों में प्रकृतिक अवस्था को त्यागने के लिए मनुष्यों ने स्वेच्छा से समझौता किया जिससे कि वे एक समाज में सम्मिलित हो और संगठित हों ताकि उनका जीवन सुखी सुरक्षित और शान्तिपूर्ण हो जहाँ वे अपनी सम्पत्तियों का सुरक्षित रुप से आनन्द ले सकें।

लॉक द्वारा प्रतिपादित सामाजिक संविदा के स्वरुप के बारे में विचारकों के भिन्न -2 मत है । कुछ लेखक मानते है कि समाज और शासक के बीच एक ही समझौता हुआ जिससे राजनीतिक समाज अर्थात राज्य की स्थापना की गयी। इसके विपरित कुछ लेखकों कर मत है कि लॉक ने दो स्तर पर समझौतों के होने की कल्पना है। इनके मतानुसार पहला समझौता सामाजिक था जो प्रकृतिक अवस्था में रहने वाले मनुष्य के बीच पारस्परिक स्तर पर हुआ था जिसके परिणामस्वरूप समाज की स्थापना हुई। लॉक के कथनानुसार मूल संविदा के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति प्रकृतिक कानून की स्वंय दंड देने के प्रकृतिक अधिकार का परित्याग करके ऐसा अधिकार सम्पूर्ण समाज

को प्रदान करता है। दूसरा समझौता राजनीतिक था जो समाज और शासक के बीच हुआ जिसके द्वारा सिविल शासन की स्थापना की गई। लॉक के लेखन में यह पूर्णतः स्पष्ट नहीं है कि उसने एक या दो समझौतो की कल्पना की है। किन्तु उसने मूल समझौता शब्दों का प्रयोग किया है जिससे यह संकेत मिलता है कि इसके अलावा भी कोई दूसरा समझौता हुआ हो। मूल संविदा के द्वारा प्रकृतिक अवस्था के लोग समाज की स्थापना करते है। दूसरा समझौता समाज के सदस्यों तथा शासक के बीच होता है। जिससे राज्य जैसी संस्था की स्थापना होती है। पहले समझौते के द्वारा व्यक्ति यह निर्धारित करते हैं कि वे अपवने सम्बन्ध में व्यवस्था करने का अधिकार समाज को प्रदान करते है। इस प्रकार समझौता कर लेने के बाद समाज के व्यक्ति शासक के साथ समझौता कर उसे शासन करने का अधिकार कुछ शर्तो के साथ प्रदान करते है। शासक का समझौते द्वारा निर्धारित यह कर्तव्य है कि वह नागरिकों के नैसर्गिक अधिकारों की रक्षा करेगा। यदि शासक संविदा की शर्तो का उल्लंघन करे अथवा सार्वजनिक हित के विरूद्ध शासन करे तब समाज को यह अधिकार होगा कि उल्लंघनकर्ता को अपदस्थ कर उसके स्थान पर नये शासन को स्थापित करे।

2.9 हॉब्स लॉक एक तुलनात्मक अध्ययन

संविदा द्वारा शासन के निमार्ण की लॉक की धारणा हॉब्स के विचारों से ठीक विपरित है। हॉब्स के मतानुसार सम्प्रभु शासक संविदा से बधा हुआ नहीं अपितु उसके बाहर एवं ऊपर है जिसके परिणाम स्वरूप राजनीतिक सत्ता का स्वरूप निरंकुश हो जाता है तथा जिसका कभी प्रतिरोध नहीं किया जा सकता है। इसके विपरित लॉक शासक को संविदा की शर्तो से प्रतिबंधित मानता है इस प्रकार लॉक सीमित शासन तन्त्र का समर्थन करता है। लॉक प्रजा को यह अधिकार देता है कि वह शासक का प्रतिरोध करे यदि शासक प्रजा के नैसर्गिक अधिकारों का अपहरण करने की कुचेष्टा करता है। हॉब्स का मत है कि प्रजा द्वारा संविदा के माध्यम से अपने समस्त प्रकृतिक अधिकारों को केवल आत्म संरक्षण के अधिकार को अपने पास रखते हुए सम्प्रभु को समर्पित कर दिया जाता है। तत्पश्चात नागरिकों के केवल वे ही अधिकार रहते है जिन्हें सम्प्रभु द्वारा प्रदान किया जाता है। इसके विपरित लॉक के मतानुसार नागरिक द्वारा राजसत्ता को केवल एक अधिकार सौंपा जाता है और वह अधिकार है, प्रकृतिक कानून को स्वाहितानुसार लागू करने का अधिकार। ऐसी धारणाओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि हॉब्स की संविदा की धारणा निरंकुशवाद का और लॉक की धारणा व्यक्तिवाद का समर्थन करती है।

2.10 लॉक के शासन सम्बन्धी विचार

लॉक का कथन है कि शासन संविदा द्वारा निर्मित संस्था है लेकिन शासन का क्या स्वरूप है एवं उसके कार्य - कलाप क्या है, उसके कार्य - कलापों की क्या सीमाएँ है। लॉक के मतानुसार सरकार के कार्य मर्यादित होते है। सरकार की स्थापना करने में लॉक समुदाय और सरकार के बीच एक न्यायधारी न्यास के द्वारा सरकार की स्थापना की जाती है। सरकार को न्यासी बताकर लॉक यह प्रतिपादित करना चाहता है कि समाज ने समूचे समाज की शक्ति को धरोहर के रुप में सरकार को सौपा है। अतः सरकार का यह वैधिक दायित्व है कि वह उस धरोहर की रक्षा एक न्यासी के रुप में करे। यदि सरकार इस दायित्व का निर्वाह नहीं करे, अर्थात नागरिकों के जीवन स्वतन्त्रता ओर सम्पत्ति के अधिकारों की रक्षा नहीं करे अथवा उनका अपहरण करे, तब समुदाय को यह अधिकार है कि उस धरोहर की अनचाही सरकार से पुनः अपने हाथों में लेकर उसे दूसरी सरकार को सौंप दे जो अधिकारों को सुरक्षित रख सके। लॉक यह सिद्ध करने का प्रयास करता है कि सरकार की शक्तियाँ समाज कह शक्ति की अपेक्षा सीमित है सरकार स्वहित के लिए नही अपितु समाज के हितों की रक्षा के लिए स्थापित की जाती है, तथा सरकार पर समाज का नियंत्रण सदा बना रहता है। सामाजिक हित का भाव वह अंकुश है जो शासन पर सदा लगा रहता है। लॉक की

मान्यता है कि सरकार समुदाय के हितों की रक्षा के लिए समुदाय के प्रति उत्तरदायी है किन्तु समुदाय का सरकार के प्रति ऐसा कोई दायित्व नहीं होता। सरकार के स्वरूप में सम्बन्ध में लॉक की यही धारणा है कि सरकार समाज की धरोहर की रक्षा एक न्यासी के रुप में करती है। सरकार द्वारा इस धरोहर को हड़पने पर अथवा वचन भंग करने पर उसे अपदस्थ कर नये न्यासी की नियुक्ति का अधिकार सदा समुदाय के हाथों में रहता है।

2.11 सरकार के कार्य

लॉक का कथन है कि जिस महान एवं प्रमुख उद्देश्य से प्रेरित होकर मनुष्य अपने आपकों शासनाधीन करते है, एवं राज्य के रुप में संगठित करते है, वह उद्देश्य है, अपनी सम्पत्ति का संरक्षण सम्पत्ति शब्द से उसका तात्पर्य जीवन, स्वास्थ, स्वतन्त्रता और सम्पदा के अधिकारों की रक्षा करना है। आखिर ये ही वे प्रकृतिक अधिकार है जिनका उपभोग व्यक्ति प्रकृतिक अवस्था में करता था किन्तु इन अधिकारों की समुचित व्याख्या तथा उनका समुचित क्रियान्वयन करने वाली संस्था के अभाव में ये अधिकार असुरिक्षत थे। सरकार की स्थापना इसी उद्देश्य से की जाती है कि ऐसे प्रकृतिक अधिकार प्रत्येक व्यक्ति के लिए सुरक्षित एवं स्थायी रहें। अतः सरकार का यह प्रथम कार्य हो जाता है। कि ऐसे सामान्य मापदण्डों की स्थापना करे जिसके द्वारा उचित अनुचित तथा न्यायपूर्ण अन्यायपूर्ण का बोध हो सके।

सरकार का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य ऐसी निष्पक्ष सत्ता का प्रावधान करना है जो व्यक्तियों के बीच के विवादों का स्थापित कानून के आधार पर निपटारा कर सके। आधुनिक भाषा में हम इसे सरकार के न्यायिक कार्य कह सकते है।

लॉक के अनुसार सरकार का तीसरा प्रमुख कार्य फैडरेटिव हैं। जिस कार्य करे आज हम सरकार के कार्यकारिणी कार्य कहते है। लॉक ने इन्ही कार्यो को फैडरेटिव कृत्य कहा है। लॉक के अनुसार सरकार के फैडरेटिव कार्य इस प्रकार है अपराधों को रोकना, समुदाय के हितों की रक्षा करना, नागरिकों के बीच के सम्बन्धों को नियमित करना युद्ध और शान्ति का संचालन करना तथा अन्य राज्यों से संधिया इत्यादि करना है। इस प्रकार लॉक सरकार के कार्यो को तीन भागों में बाँटता है विधायिनी, न्यायिक एवं कार्यपालिका सम्बन्धी कार्य।

लॉक की ऐसी मान्यता है कि विधायी एवं कार्यकारिणी शक्तियों को सदैव पृथक रखा जाना चाहिए। ऐसी मान्यता है कि जो व्यक्ति कानून बनाते है उन्हीं व्यक्तियों के हाथों में उन कानूनों को लागू करने की शक्ति प्रदान नहीं की जानी चाहिए। इस प्रकार हम देखते है कि लॉक शक्ति पृथक्करणके सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए दिखायी पड़ते है। लॉक कहते है विधायनी एवं कार्यकारिणी शक्तियाँ पृथक होनी चाहिए एक ही संस्था में केन्द्रित नहीं होनी चाहिए। इसी प्रकार लॉक न्यायिक शक्तियों को भी विधायनी एवं कार्यकारिणी की शक्तियों से पृथक पृथक होनी चाहिए एक ही संस्था में केन्द्रित नही होनी चाहिए। इसी प्रकार लॉक न्यायिक शक्तियों को भी विधायनी एवं कार्यकारिणी की शक्तियों से पृथक करने का पक्षधर है। विधि की व्याख्या करने का कार्य स्वतन्त्र न्यायपालिका का है हम देखते है कि लॉक के इन विचारों में शक्ति पृथक्करण के तत्व निहित है।

2.12 व्यक्तिवाद

लॉक के विषय में यह कहा जाता है कि लॉक की पद्धति में प्रत्येक वस्तु वयक्ति के चारों ओर घूमती है, प्रत्येक वस्तु को इस प्रकार व्यवस्थित किया गया है कि व्यक्ति की सर्वोच्च सत्ता सब प्रकार से सुरक्षित रहे। व्यक्तिवाद लॉक के राजनैतिक विचारों का आधार है। उसके राजदर्शन में व्यक्ति परमसाध्य है और राज्य और समाज दोनों

उसके अधिकारों को बनाये रखने के साधन है। जहाँ कहीं राज्य व्यक्ति के अधिकार में किसी प्रकार से बाधक होता है वहाँ उस पर प्रतिबन्ध लगाया जाना चाहिए। इस प्रकार शासक जनता का प्रतिनिधि मात्र है। व्यक्ति समाज अथवा राज्य का किसी भी प्रकार का ऋणी नहीं है। इस वाक्य में लॉक का व्यक्तिवाद की परमसीमा दिखलाई पड़ती है।

लॉक राज्य को व्यक्ति के अधिकारों का संरक्षक तथा जनसेवा का माध्यम मानकर व्यक्ति को राज्य व्यवस्था का केन्द्र बिन्दु बना देता है। व्यक्ति के नैसर्गिक अधिकारों का संरक्षण करना, यही राज्य का दायित्व है। उसके विचारों में राज्य केन्द्रीय नहीं है, उसके दर्शन का केन्द्र बिन्दु व्यक्ति है यही लॉक का व्यक्तिवाद है। लॉक के दर्शन में व्यक्ति के लिए समूची राजनीतिक व्यवस्था का निर्माण किया गया है । व्यक्ति के नैसर्गिक अधिकारों की रक्षा के लिए राज्य की स्थापना करना, व्यक्ति के अधिकारों का शासक द्वारा अपहरण करने पर ऐसे शासन को अपदस्थ करना व्यक्ति की सहमति को राज्य का आधार मानना इत्यादि ऐसे विचार है जिनका प्रतिपादन करने के कारण लॉक को व्यक्तिवादी दर्शन का प्रणेटा माना जाता है। अरस्तु यह कहना उचित नहीं है कि लॉक पूर्णतया और असीम रुप से व्यक्तिवादी था। इस सम्बन्ध में बोदाँ का जो कथन पीछे दिया गया है वह एकांगी सत्य है।

2.13 सम्पत्ति का अधिकार

लॉक व्यक्ति के निजी सम्पत्ति के अधिकार का प्रबल समर्थक है। उसके अनुसार व्यक्ति का सम्पत्ति का अधिकार प्रकृति प्रदत्त है। लॉक का मत है कि मनुष्य संविदा द्वारा सिविल समाज की रचना अथवा सरकार की स्थापना मात्र इसी उद्देश्य से करते है कि सरकार उनकी सम्पत्ति के अधिकार की रक्षा करे।

लॉक के अनुसार प्रकृतिक अवस्था में प्रकृति की वस्तुओं पर सभी का समान अधिकार था। तब भी किसी एक व्यक्ति का प्रकृतिक सम्पदा पर एकाधिकार नहीं था। जिस एक चीज पर उसको प्रकृति ने एकाधिकार प्रदान किया था, वह उसका स्वंय का निजी व्यक्तित्व किन्तु जब व्यक्ति ने अपने परिश्रम को प्रकृति की किसी वस्तु को संजोया संभाला अर्थात प्रकृति की सम्पदा के साथ अपने परिश्रम को मिश्रित किया तब वह वस्तु उस व्यक्ति की निजी सम्पत्ति बन गयी। लॉक का मत है कि सम्पत्ति का अधिकार किसी समझौते का परिणाम नहीं है क्योंकि व्यक्ति अपने जन्म के साथ साथ ही इसे प्रकृति से प्राप्त कर समाज में अवरित होता है। राज्य अथवा समाज ने इस अधिकार का निर्माण नहीं किया है। अतः सरकार अथवा समाज को किसी व्यक्ति से सम्पत्ति को छीनने का अधिकार भी नहीं है। लॉक के मान्यतानुसार सम्पत्ति व्यक्ति कर अनुलंघनीय अधिकार है।

लॉक के प्रकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त का, विशेषतः सम्पत्ति के अधिकार का राजनीतिक चिन्तन को महत्वपूर्ण योगदान है। इस सिद्धान्त द्वारा लॉक ने यह प्रतिपादित किया था कि शासन प्रकृतिक अधिकारों से मर्यादित रहता है तथा राज्य का दायित्व है कि वह व्यक्ति के जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति की रक्षा करे। इस अधिकार का समर्थन करके लॉक ने व्यक्तिवादी दर्शन की प्राण प्रतिष्ठा की। राजकीय हस्तक्षेप के सिद्धान्त ने लॉक के सरकार सम्बन्धी विचारों से गहरी प्रेरणा प्राप्त की है। दूसरी और लॉक के सम्पत्ति के सिद्धान्त की धारणा ने एडम स्मिथ तथा समाजवादी दर्शन के मूल्य सिद्धान्त को भी प्रभावित किया।

2.14 लॉक के विचारों की आलोचना

लॉक की सीमित राजतंत्र के उपरोक्त सिद्धान्तों के विरूद्ध निम्नलिखित तर्क उपस्थित किये गये है।

1. लॉक के सिद्धान्त में प्रभुता राज्य में नहीं बल्कि व्यक्ति में रहती जान पड़ती है। प्रभुशक्ति के अभाव में राज्य की विशेषता नष्ट हो जाती है।

2. लॉक राज्य को विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिए बनी हुई एक लिमिटेड कम्पनी का रुप देता है राज्य के स्वरुप की उसकी कल्पना यथार्थ नहीं है।

3. प्रकृतिक दशा में मानव समाज का लॉक द्वारा खीचा गया चित्र अच्छा होने पर भी वास्तविकता से दूर है। जब प्रकृति में राज्य में मनुष्य को कोई कठिनाई नहीं थी तो केवल कानून की व्याख्या और उसे लागू करने के लिए राज्य की उत्पत्ति की कल्पना राज्य का पर्याप्त कारण नहीं है।

4. अनेक विचारक लॉक के सिद्धान्तों में कोई मौलिकता नहीं मानते। सामाजिक संविदा, प्रकृतिक नियम, प्रकृतिक अधिकार और क्रांन्ति के अधिकार आदि के विषय में लॉक के सिद्धान्त उसके पहले से चले आते हुए विचारों पर आधारित है।

लॉक का योगदान

पाश्चात्य राजशास्त्र के इतिहास मं लॉक का स्थान महत्वपूर्ण है। उसके शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त को आगे चलकर मान्टेस्क्यू ने विकसित किया। उसके सिद्धान्तों के आधार पर रुसो ने लोकप्रिय प्रभुता का सिद्धान्त बनाया। उसके सिद्धान्त अधिक व्यवहारिक थे। उसका यह कहना आज भी सब कही मान्य है कि शासन जनता की इच्छा पर आधारित है। उसका लोकप्रिय प्रभुता का सिद्धान्त आधुनिक जनतंगीय राज्य का आधार है। उसकी निरपेक्ष राज्य की कल्पना अधिकतर आधुनिक राज्यों में साकार हुई है। प्रकृतिक अधिकारों के विषय में उसका सिद्धानत आधुनिक राज्यों में नागरिक के मौलिक अधिकारों का आधार है।

अभ्यास प्रश्न -

1. 'ए लैटर ऑन टॉलरेशन' नामक ग्रन्थ के लेखक कौन है ?

2. इंग्लैण्ड की रक्तहीन क्रांन्ति कब हुई ?

3. लॉक व्यक्ति के ..... अधिकार का प्रबल समर्थक है

4. लॉक को आधुनिक काल में .....का प्रतिपादक माना जाता है।

5. 'टू ट्रीटाइजेज ऑफ गर्वनमैट' की रचना किसने की ।

6. ज्ञान को अनुभव जन्म मानने के कारण लॉक को एक .....विचारक माना जाता है।

7. लॉक सरकार के कार्यो को ..... भागो में बाटता है।

2.15 सारांश

उक्त इकाई के अध्ययन से यह आप समझ गये होगें कि किसी भी राजनीतिक विचारक के राजनीतिक चिंतन पर उसके समय की परिस्थितियां प्रभावित करती है। आप ने देखा कि जहाँ हॉब्स मानव स्वभाव का बुरा चित्रण करता है वही लॉक मानव के स्वभाव के उदान्त और सकारात्मक पक्षों पर बल देता है। ऐसा इसलिए संभव हो सका

क्योंकि लॉक ने इंग्लैण्ड के गौरपूर्ण क्रान्ति को देखा कि किस प्रकार बड़ज्ञ परिवर्तन भी शांतिपूर्ण तरीके से हो सकता है। साथ ही लॉक ने प्रकृतिक अवस्था में भी जीवन स्वतन्त्रता और सम्पत्ति के अधिकारों को स्वीकार कर व्यक्ति को गौरवपूर्ण स्थान प्रदान किया है और राज्य के उत्पत्ति के प्रमुख कारण के रुप में इन अधिकारों की रक्षा को माना यदि कोई सरकार इन अधिकारों की रक्षा नहीं कर पाती है तो उसे अपदस्थ करने का अधिकार जनता को देता है। ऐसा करके वह प्रतिनिधि सरकार का समर्थन करता है। सम्पत्ति के अधिकार को मान्यता देकर वह तत्कालीन समय में उभरते हुए पूंजीवाद को समर्थन प्रदान करने का कार्य किया स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए शासन के अंगो में शक्तियों के पृथक्करण की बात कर वह मैकियावली का पूर्व संकेत देता है।

2.16 शब्दावली

प्रतिनिधि सरकार:- जब सरकार के गठन में जनता की प्रत्यक्ष या परोक्ष भागीदारी हो, और वह सरकार जनता के प्रति उत्तरदायी हो तो उसे .....कहते है।

सीमित सरकार:- निरकुश सरकार के विपरीत कानून का शासन अर्थात सरकार भी कानून से नियंत्रित होती है।

प्रकृतिक अधिकार:- प्रकृतिक अधिकार वे अधिकार है जो मनुष्य को जन्मजात प्राप्त होते है
जैसे जीवन, स्वास्थ, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति के अधिकार।

फैडेरेटिवे:- वर्तमान समय में जिसे हम कार्यपालिका द्वारा किया जाने वाला कार्य कहते है। लॉक इन्हीं कार्यो को फैडेरेटिव कहता है।

2.17 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. लॉक 2. 1688 ई0 3. सम्पत्ति का अधिकार 4. संविधानवाद 5. 6. अनुभववादी 7. तीन

2.18 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1.राजनीति दर्शन का इतिहास-जॉर्ज एच0 सेबाइन
2.पॉलिटिकल थ्योरीज, एनसिएन्ट एण्ड मेडीवल-डनिंग
3.मास्टर्स ऑफ पॉलिटिकल थॉट- डब्ल्यू0 टी0 जोन्स
4.पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास-डा0 प्रभुदत्त शर्मा
5.राजनीतिक चिन्तन की रूपरेखा-ओ0पी0 गाबा

2.19 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1.राजनीति-कोश- डा0 सुभाष कश्यप एवं विश्वप्रकाश गुप्त
2.पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तक- आर0एम0 भगत

2.20 निबंधात्मक प्रश्न

1. लॉक के राजनीतिक विचारों की विशेषताऐं बताइये।
2. लॉक के प्रकृतिक अवस्था के सिद्धान्त का पीक्षण कीजिए।
3. लॉक के सामाजिक संविदा सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

इकाई-3 : जीन जेक्स रूसो (1712-1778)

इकाई की संरचना

3.1 प्रस्तावना
3.2 उद्देश्य
3.3 रूसो की कृतियाँ
3.4 रूसो का जीवन परिचय एवं पद्धति
3.5 रूसो का प्रकृतिक अवस्था के सम्बन्ध में विचार
3.6 रूसो का मानव स्वभाव के सम्बन्ध में विचार
3.7 रूसो का सामाजिक संविदा सम्बन्धी विचार
3.7.1 रूसो की प्रकृतिक अवस्था और सामाजिक संविदा की आलोचना
3.8 रूसो की सामान्य इच्छा सम्बन्धी विचार
3.8.1 यथार्थ इच्छा
3.8.2 वास्तविक इच्छा
3.8.3 सामान्य इच्छा का निर्माण
3.8.4 सामान्य इच्छा, जनमत और समस्त की इच्छा में अन्तर
3.8.5 रूसो की सामान्य इच्छा की विशेषताएं
3.8.6 रूसो की सामान्य इच्छा और विधि निर्माण के सम्बन्ध में विचार
3.8.7 रूसो की सामान्य इच्छा सिद्धान्त की आलोचना
3.8.8 रूसो की सामान्य इच्छा सिद्धान्त का महत्व
3.9 रूसो की सम्प्रभुता सम्बन्धी अवधारणा
3.10 रूसो के शासन सम्बन्धी विचार
3.11 रूसो के कानून, स्वतंत्रता, समानता, धर्म एवं शिक्षा सम्बन्धी विचार
3.11.1 रूसो का कानून सम्बन्धी विचार
3.11.2 रूसो का स्वतंत्रता सम्बन्धी विचार
3.11.3 रूसो का समानता सम्बन्धी विचार
3.11.4 रूसो का धर्म सम्बन्धी विचार
3.11.5 रूसो का शिक्षा सम्बन्धी विचार
3.12 रूसो की हाब्स तथा लॉक के साथ तुलना
3.13 सारांश
3.14 शब्दावली
3.15 अभ्यास के लिय प्रश्न
3.16 सन्दर्भ ग्रन्थ/सहायक पुस्तकें
3.17 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
3.18 निबंधात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

हाब्स, लॉक एवं रूसो ये तीनों नाम आधुनिक राजनीतिक चिंतन में सामाजिक संविदा सिद्धान्त से सम्बद्ध है। पिछली इकाईयों में हम हाब्स तथा लॉक के बारे में सम्यक रूप से विवेचना कर चुके हैं। इस इकाई में हम रूसो के बारे में अध्ययन करेंगे-

सामाजिक संविदा के विचारकों में रूसो का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह एक प्रख्यात दार्शनिक एवं क्रान्तिकारी विचारों का प्रणेता, शिक्षा-शास्त्री आदर्शवादी, मानवतावादी और युग-निर्माता साहित्यकार था। उसके ग्रन्थों ने प्राचीन शासन के सम्पूर्ण सामाजिक ढाँचे को झकझोर दिया और एक नवीन लोकतन्त्रीय व्यवस्था लिए मार्ग तैयार कर दिया। व्यक्तिवाद, आदर्शवाद और अद्वैतवादी लोकप्रिय सम्प्रभुता के विभिन्न सिद्धान्तों को उसकी लेखनी से नया समर्थन और नया दिशा निर्देशन मिला। सर्वव्यापी सामान्य इच्छा के सिद्धान्त द्वारा उसने राजनीति में स्थायी सावयवी समाज की कल्पना को बल दिया। रूसो ने संविदा सिद्धान्त के आधार पर एक पूर्णरूपेण जनप्रिय सम्प्रभुता का सिद्धान्त खड़ा कर दिया। लोकप्रियता, सम्प्रभुता, विधि, सामाजिक स्वीकृति, प्रशासन, क्रान्ति आदि विषयों पर अपने निर्भीक और स्पष्ट विचारों के कारण रूसो ने अमर ख्याति अर्जित की।

3.2 उद्देश्य

रूसो का मुख्य उद्देश्य मानव के आंतरिक स्वभाव के लिये अपेक्षित सच्ची स्वतन्त्रता दिलाना था। जबकि तत्कालीन फ्राँस में राज्य के पाशविक बल और प्राधिकार में नितान्त असंगति थी। उन दिनों फ्राँस पर व्यक्तियों का शासन था, कानून का नहीं। फ्राँस की जनता को कोई स्वतन्त्रता नहीं थी। फ्राँस की जनता को अपने प्रभुओं की प्रत्येक उचित, अनुचित आज्ञा का पालन करना पड़ता था। जबकि ऐसे में रूसो का मुख्य उद्देश्य एवं विश्वास यह था कि समाज के एक सच्चे संगठन में न कोई स्वामी होगा और न कोई आदेश। ऐसे समाज में सभी सच्ची स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकेंगे। अब प्रश्न उठता है कि क्या कोई ऐसा राजनीतिक संगठन सम्भव है। रूसो का उद्देश्य यह था कि इस कठिन समस्या का समाधान वह अपने सामाजिक संविदा सिद्धान्त द्वारा दे सके। अपने ग्रन्थ 'सोशल कान्ट्रैक्ट' में वह इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिये विभिन्न राजनीतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है जिसका अध्ययन हम इकाई में आगे करेंगे।

3.3 रूसों की कृतियाँ

1. ''हैज द रिवाइवल ऑफ द साइन्स एण्ड द आर्ट्स हेल्प्ड टू प्यूरीफाई ऑर टू करप्ट मोराल्स'' पर निबन्ध- 1749।

2.डिस्कोर्सेस ऑन द ओरिजिन एण्ड फाउण्डेशन ऑफ इनइक्वालिटी पर निबन्ध- 1754

3.सोशल कान्टैक्ट अथवा प्रिंसिपल ऑफ पॉलिकल राइट्स- 1762 में प्रकाशित।

4.लॉ नॉवेल हेलॉयज-1761 में प्रकाशित।

5.इमाइल-1762 में प्रकाशित। 6. कन्फैशन्स 7. डाइलॉग्स 8. रिवरीज

3.4 जीवन-परिचय, कृतियाँ एवं पद्धति

रूसो का जन्म सन् 1712 में निर्धन आइजक नामक घड़ी-बनाने वाले के यहाँ जेनेवा में हुआ। जन्म के समय ही माता का देहान्त हो गया और पिता ने पुत्र को अपने दुर्व्यसनों का साथी बना दिया। इस प्रकार जन्म से ही वह उपेक्षित और स्नेहविहीन रहा। इन्हीं परिस्थितियों में 10 वर्ष की अवस्था में ही वह जेनेवा छोड़कर भाग गया। तत्पश्चात् लगभग 14 वर्ष की अल्पावस्था में ही रूसो को एक कठोर संगतराश (खुदाई का काम करने वाला) के पास काम करना पड़ा जो उसके साथ बड़ा ही पाशविक व्यवहार करता था। वहाँ रूसो को पेट भरने के लिए केवल कठोर परिश्रम ही नहीं करना पड़ा बल्कि उसने चोरी करने और झूठ बालने की कला भी सीखी। आखिर अपने मालिक से तंग आकर रूसो घर से भाग निकला। तब उसकी आयु 16 वर्ष की थी।

जीवन के अगले कुछ वर्ष रूसों ने फ्राँस में आवारागर्दी में बिताए। वह न केवल बुरी संगति में पड़ गया बल्कि उसका स्वभाव ऐसा बन गया कि वह हमेशा वर्तमान में ही रहता था, न भूत के लिए पछताता था और न भविष्य के लिए चिन्ता करता था। बाजारू औरतों के साथ उसके प्रेम-सम्बन्ध चले, किन्तु ये सम्बन्ध स्थायी मैत्री का रूप कभी नहीं ले सके। पेरिस में उसका मित्र वर्ग उसे आर्थिक सहायता देता रहा। वह मजदूरों की गन्दी बस्तियों में जीवनयापन करने लगा। जीवनभर वह अविवाहित ही रहा, किन्तु उसके अवैध सम्बन्ध सदा बने रहे। उसे वेनिस में फ्रेन्च दूतावास में नौकरी भी मिली किन्तु अपने खराब मिजाज के कारण उसे पदच्युत होना पड़ा।

आवारा, प्रताड़ित और पीड़ित होने पर भी रूसो बहुत करीब से जीवन के हर पहलू को देखता रहा। धर्म के सम्बन्ध में रूसो अस्थिर रहा। उसने कभी कैथोलिक धर्म को अपनाया तो कभी प्रोटेस्टेन्ट मत को। इतना सब होने के बाद आखिर उसके भाग्य ने पलटा खाया। सन् 1749 में उसने एक प्रतियोगिता का समाचार पढ़ा। प्रतियोगिता का विषय था Has the revival of the Sciences and the Arts helped to purify or to corrupt morals रूसो ने इस प्रतियोगिता में भाग लिया। उसे प्रथम पुरस्कार मिला। अपने निबन्ध में बिलकुल मौलिक और सनसनीखेज विचार प्रकट करते हुए उसने लिखा कि विज्ञान तथा कला की तथाकथित प्रगति से ही सभ्यता का ह्रास, नैतिकता का विनाश और चरित्र का पतन हुआ है। अब रूसो एकाएक ही प्रसिद्ध हो गया। पेरिस के साहित्यिक क्षेत्रों में उसे सम्मान मिला, किन्तु उसने भद्र समाज और धनाढ्य महिलाओं के संसर्ग में लौटने की कोशिश नहीं की।

अब रूसो की सोई हुई साहित्यिक प्रतिभा और बौद्धिक चेतना जाग्रत हो गई थी। अब लिखना ही उसका व्यवसाय और जीवन बन गया। सन् 1754 में उसने 'डीजॉन की विद्यापीठ' (Academy of Dijon) की ही एक अन्य निबन्ध प्रतियोगिता में भाग लिया जिसका विषय था ''मनुष्यों में विषमता उत्पन्न होने का क्या कारण है? क्या प्रकृतिक कानून इसका समर्थन करता है।'' यद्यपि रूसो पुरस्कार नहीं जीत सका, तथापि उसने निजी सम्पत्ति और तत्कालीन फ्राँस के कृत्रिम जीवन पर कठोर प्रहार किये। सन् 1754 ई0 में रूसो पुनः जेनेवा लौट गया जहाँ वह कैथोलिक प्रोटेस्टेन्ट बन गया और उसे फिर से जेनेवा गणतन्त्र की नागरिकता दे दी गई।

कुछ समय बाद रूसो पुनः पेरिस चला गया। विख्यात लेखिका मदाम ऐपिने (Madam Epinay) द्वारा पेरिस के निकट मौण्ट मेरेन्सी में रूसो के लिए निवास और भोजन की व्यवस्था कर दी गई। पेरिस के कृत्रिम जीवन से दूर प्रकृति की गोद में रहते हुए रूसो ने Lock Nouvelle Heloise, The Emile तथा Social Contract नामक विख्यात ग्रन्थों की रचना की जिनसे उसका नाम चारों और फैल गया। उसके 'इमाइल' ग्रन्थ ने तो फ्राँस में क्रान्ति सी उत्पन्न कर दी। उसके क्रान्तिकारी विचारों से शासक और पादरीगण क्रुद्ध हो गए। सन् 1762 में उसकी गिरफ्तारी का आदेश निकाला गया। रूसो ने पेरिस छोड़ दिया तथा जीवन के अन्य 16 वर्ष एक खानाबदोश के रूप में बिताए। उसका स्वास्थ्य गिरता रहा, किन्तु लेखन कार्य जारी रहा। प्राण रक्षा के लिए वह जर्मनी, इंग्लैण्ड आदि देशों में भटकता रहा। 1766 में इंग्लैण्ड में दार्शनिक ह्यूम ने उसे शरण दी। वहाँ बर्क भी उसका मित्र बन गया। लेकिन रूसो के मित्र उसकी अभिमानशीलता को सहन नहीं कर सके। अतः मित्रों के प्रति शंकालु होकर रूसो पुनः गुप्त रूप से फ्राँस भाग गया। ह्यूम अपने प्रतिभाशाली मित्रों की सहायता से यह व्यवस्था कर दी कि रूसो को बन्दी बनाने की आज्ञा क्रियान्वित न की जाए।

रूसो की अध्ययन पद्धति बहुत कुछ हॉब्स के समान थी। उसने इतिहास का सहारा लेकर अनुभूतिमूलक पद्धति (Empirical Method)का अनुमान किया। उसकी पद्धति हॉब्स की ही तरह मनोविज्ञानयुक्त थी। मैकियावली, बोदाँ, अल्युसियस, हॉब्स, लॉक, ग्रोशियस, सिडनी, मॉण्टेस्क्यू, वाल्टेयर आदि का उस पर पर्याप्त प्रभाव दिखाई पड़ता है। यूनानी और रोमन साहित्य तथा काल्विन के धार्मिक विचारों से भी वह प्रभावित हुआ।

3.5 रूसो की प्रकृतिक अवस्था के सम्बन्ध में विचार

रूसो की प्रकृतिक अवस्था में मनुष्य प्रकृति की गोद में स्वच्छन्दतापूर्वक जीवनयापन करता था। वह अवस्था भय और चिन्ता से मुक्त थी। प्रकृतिक अवस्था में रूसो का मनुष्य भला असभ्य जीव (Noble Savage) था, जो प्रारम्भिक सरलता और सुखपूर्ण रीति से जीवन बसर करता था। वह स्वतन्त्र, संतुष्ट, आत्मतुष्ट, स्वस्थ एवं निर्भय था। उसे न तो साथियों की आवश्यकता थी और न वह समाज के व्यक्तियों को दुःख देना चाहता था। उसकी सहज वृत्ति और सहानुभूति की भावना ने ही उसका दूसरों के साथ गठबन्धन किया। वह न तो सही को जानता था और न ही गलत को। वह गुण और अवगुण की सब भावनाओं से अछूता थां उस दशा में केवल नैसर्गिक शक्तियों से युक्त था। बुद्धि एवं विवेक की करतूतों का उसमें अभाव था। प्रकृतिक अवस्था में ऊँच-नीच तथा मेरे-तेरे का कोई भेदभाव नहीं था। व्यक्ति स्वयं अपना स्वामी था। वह आत्मनिर्भर होता था। सभ्यता का विकास न होने से उसकी आवश्यकताएँ बहुत कम थीं और जो थीं वह प्रकृति क माध्यम से सहज ही पूरी हो जाती थीं। मनुष्य अपने वर्तमान से ही सन्तुष्ट था, उसे भविष्य के लिए संचय की चिन्ता नहीं थी। रूसो की प्रकृतिक अवस्था वाला समाज सभ्यता के प्रभावों से सर्वथा मुक्त था। वह समाज ऐसी प्रसन्नता का इच्छुक था। जिसमें सामाजिक नियम और सामाजिक संस्थाओं का प्रभाव बिलकुल न हो।

रूसो की प्रकृतिक अवस्था ऐसे स्वर्णिम युग सी थी जिसमें नियन्त्रणों से मुक्त व्यक्ति एक भोले और निर्दोष पक्षी की तरह प्रकृतिक सौन्दर्य का उपभोग करता हुआ मस्ती से स्वच्छन्दतापूर्वक विचरता रहता था। उसे जंगली कहना आसान था, क्योंकि वह पहाड़ों-जंगलों में ही अधिवास करता था लेकिन जंगली होते हुए भी वह सज्जन तथा नेक था। सादगी उसका गुण था और भोलापन उसका जीवन।

किन्तु स्वर्णिम युग छिन्न-भिन्न हो गया। प्रकृतिक दशा की अवस्थाएँ चिरकाल तक स्थिर नहीं रह सकीं। रूसो की प्रकृतिक दशा को नष्ट करने के लिए दो तत्व उत्पन्न हुए। एक तो जनसंख्या की वृद्धि था और दूसरा था तर्क का उदय। जनसंख्या की वृद्धि से आर्थिक विकास तेजी से होने लगा। सरलता और प्रकृतिक प्रसन्नता से प्रारम्भिक जीवन का लोप हो गया। सम्पत्ति का अभ्युदय हुआ और मनुष्यों में परिवार एवं वैयक्तिक सम्पत्ति बनाने की इच्छा उत्पन्न हुई। परिव्राजक की तरह स्वच्छन्द घूमने वाले वनचारी ने भूमि के हिस्से पर अपना अधिकार सहज, स्नेहवश या अस्थायी आवास की तरह जमाया। धीरे-धीरे वहाँ उसका स्थाई आवास बन गया। दूसरे सदस्यों ने, जो निश्छल थे, व्यक्ति विशेष के इस आधार को निःसंकोच मान लिया। वाद-विवाद या प्रतिरोध उनकी प्रकृति से परे था। जनसंख्या की वृद्धि के साथ-साथ यह प्रक्रिया बढ़ती गई। परिवार और सम्पत्ति की व्याख्या घर कर गई। अब विषमता का जन्म हुआ। मानवीय समानता नष्ट होने लगी। मनुष्य ने मेरे और तेरे के भाव से सोचना आरम्भ किया जिससे निजी सम्पत्ति की व्यवस्था का श्रीगणेश हुआ। रूसो के अनुसार, ''वह प्रथम मनुष्य ही नागरिक समाज का वास्तविक संस्थापक था जिसने भूमि के एक टुकड़े को घेर लेने के बाद यह कहा था कि वह मेरा है और उसी समय समाज का निर्माण हुआ था जब अन्य लोगों ने उसकी देखा-देखी स्थानों और वस्तुओं को अपना समझना प्रारम्भ किया।'' परिणामस्वरूप अपेक्षाकृत बलवान आदमी अधिक मात्रा में काम करता था, किन्तु दस्तकार को अधिक अंश मिलता था। इस विकास क्रम का यह परिणाम हुआ कि अब एक विकृति सी सारी दशा पर छा गई। मनुष्य सहज सुख-शान्ति से हाथ धो बैठा। जीवन कलुषित हो उठा।

यहाँ उल्लेखनीय है कि रूसो ने प्रकृतिक अवस्था के तीन प्रकार माने हैं। सबसे पहले आदिम प्रकृतिक अवस्था थी। उस समय मनुष्य निपट जंगली था, फिर मध्यवर्ती प्रकृतिक अवस्था आई। तब असमानता का प्रारम्भ हुआ और संचयवृत्ति बढ़ गई। तत्पश्चात् दमन एवं अत्याचार की पोषिका अन्तिम अवस्था आई जो असहनीय थी और जिसमें मनुष्य की गति बुरे से सर्वनाश की ओर (From bad to wrose and still wrose) थी। इस कुचक्र को रोकने के लिए ही सामाजिक संविदा की आवश्यकता महसूस हुई। इसी समय मनुष्य 'प्रकृति' की ओर वापिस (Back to nature) चलने का नारा दिया। किन्तु रूसो हमें सभ्यता की समस्त देनों का परित्याग करके पूर्व-राज्य की अवस्था में नहीं ले जाना चाहता अपितु प्रकृतिक दशा को आदर्श अवस्था तक पहुँचाना चाहता है। वह जानता है कि समाज में आगे बढ़े हुए रथ को पीछे लौटना सम्भव नहीं है पर साथ ही वह प्रकृति-सुलभ सौन्दर्य, सरलता और सहानुभूति का उपासक है। ''विवेक तथा तार्किक बुद्धि को वह प्रकृति के प्रतिकूल मानता है। रूसो का 'Natural Men' वह आदर्श है जिसको विकास करते-करते हमें प्राप्त करना है। हमें एक ऐसे प्रतिष्ठान की आवश्यकता है जो व्यक्ति और संस्थाओं का पुननिर्माण करेगी।

रूसो ने प्रकृतिक दशा के बारे में यह दावा नहीं किया कि निश्चित रूप से कभी किसी जगह वैसी दशा रही होगी। अनुमान से वह उस दशा की कल्पना करता है। अपने विचारों में आगे चलकर वह संशोधन और परिवर्तन करता है जिससे कई असंगतियाँ पैदा हो गयी हैं लेकिन रूसो स्वयं कहता है, ''मैं पक्षपात या पूर्वाग्रह की बजाय विरोधाभास (Paradoxes) का प्रेमी हूँ।''

3.6 रूसो का मानव-स्वभाव के सम्बन्ध में विचार

मानव-स्वभाव के सम्बन्ध में रूसो के अनुसार मनुष्य स्वभावतः सदाशय और अच्छा होता है। वह मनुष्य को स्वभावतः भोला मानता है जिसे किसी बात की चिन्ता नहीं है। उसका जीवनयापन प्रकृति की गोद में होता है। संसार में पाये जाने वाले पाप, भ्रष्टाचार, दुष्टता आदि गलत एवं भ्रष्ट सामाजिक संस्थाओं की उत्पत्ति है। मनुष्य के पतन के लिए भ्रष्ट और दूषित सामाजिक संस्थाएँ दोषी हैं। मनुष्य स्वभाव से बुरा नहीं होता अपितु भ्रष्ट कला के कारण बुरा बन जाता है।

अपने विचारों को सिद्ध करने के लिए रूसो मानव स्वभाव की दो मौलिक नियामक प्रवृत्तियाँ बताता है। मानव-स्वभाव के निर्माण में सहायक प्रथम प्रवृत्ति है-आत्म-प्रेम अथवा आत्म-रक्षा की भावना, जिसके अभाव में वह कभी का नष्ट हो गया होता। मानव स्वभाव निर्माण से दूसरी सहायक प्रवृत्ति है सहानुभूति अथवा परस्पर सहायता की भावना जो सभी मनुष्यों में पाई जाती है और जो सम्पूर्ण जीवनधारी सृष्टि का सामान्य गुण है। इसके कारण ही जीवन संग्राम इतना कठिन प्रतीत नहीं होता है। ये सभी भावनाएँ शुभ हैं इसलिए स्वभावतया मनुष्य को अच्छा ही माना जाना चाहिए।

रूसो का कहना है कि मनुष्य की उपरोक्त दोनों मूलभूत भावनाओं में कभी-कभी संघर्ष होना स्वाभाविक है। पारिवारिक हित की कामना कभी-कभी ऐसे कार्यों की माँग करती है जो समाज के हितों से तालमेल नहीं खाते। चूँकि ये दोनों भावनाएँ पूर्ण रूप से सन्तुष्ट नहीं की जा सकतीं, अतः व्यक्ति समझौता करने के लिए विवश होता है। आत्म-रक्षा और परमार्थ के कार्यों में संघर्ष होने से पैदा होने वाली नई समस्या का समाधान वह समझौतावादी प्रवृत्ति से करना चाहता है। इस प्रकार के समझौते से एक नवीन भावना उत्पन्न होती है जिसे अन्तःकरण कहते हैं। अन्तःकरण प्रकृति का उपहार है, यह केवल एक नैतिक शक्ति है, नैतिक मार्गदर्शन नहीं। मार्गदर्शन के लिए व्यक्ति को विवेक नामक स्वयं में विकसित होने वाली एक अन्य शक्ति पर निर्भर रहना पड़ता है। विवेक व्यक्ति को यह सिखाता है कि उसे क्या करना चाहिए। विवेक मनुष्य का नैतिक पथ-प्रदर्शन करता है और अन्तःकरण उसको उस मार्ग पर प्रेरित करता है। रूसो इस तरह बतलाता है कि आत्म-रक्षा एवं सहानुभूति इन दो भावनाओं में सामंजस्य और अन्य भावनाओं के विकास करने में अन्तःकरण तथा विवेक दोनों का योग होता है। रूसो ने विवेक की अपेक्षा अन्तःकरण को अधिक महत्त्व सम्भवतः इसलिए दिया है कि उस युग में अन्तःकरण की बहुत उपेक्षा की जा रही थी। अन्तःकरण पर इतना अधिक बल देने के कारण ही उसे विवेक-विरोधी एवं रोमांचकारी तक कह दिया गया है। वास्तव में रूसो ने विवेक पर बड़े आक्षेप किए हैं। उसने बुद्धि एवं विज्ञान का विरोध करके इसके स्थान पर सद्भावना और श्रद्धा को प्रतिष्ठित किया है। उसके अनुसार बुद्धि भयानक है क्योंकि वह श्रद्धा को कम करती है। विज्ञान-विनाशक है क्योंकि वह विश्वास को नष्ट करता है और विवेक बुरा है क्योंकि वह नैतिक सहज ज्ञान के विरोध में तर्क वितर्क को प्रधानता देता है। किन्तु विवेक के प्रति उसका विरोध पूर्ण अथवा निर्मम नहीं है। वह मानव व्यक्तित्व के विकासमें विवेक को उचित स्थान प्रदान करता है, हाँ उसे असीम अधिकार नहीं देता।

स्पष्ट है कि रूसो के विवेचन का आधार मुख्यतया यह सिद्ध करना है कि मनुष्य स्वभाव से ही अच्छा होता है। तो फिर प्रश्न उठता है कि पथ-भ्रष्ट क्यों हो जाता है? रूसो का तर्क है कि मनुष्य पथ-भ्रष्ट उस समय होता है जब उसका आत्म-प्रेम , दम्भ में परिवर्तित हो जाता है। अतः शुभ एवं स्वाभाविक बने रहने के लिए दम्भ का परित्याग कर देना आवश्यक है। विवेक को दम्भ के चंगुल में नहीं फँसने देना चाहिए।

3.7 रूसो का सामाजिक संविदा सम्बन्धी विचार

रूसो के अनुसार प्रकृतिक अवस्था के अन्तिम चरण की अराजकता से जब व्यक्ति दुखी हो गए तब उन्होंने स्वयं को एक ऐसी संस्था में संगठित कर लेने की आवश्यकता अनुभव की जिसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति की जान-माल की रक्षा हो सके और साथ ही व्यक्तियों की स्वतन्त्रता भी अक्षुण्ण बनी रहे। अतः उन्होनें परस्पर मिलकर यह समझौता किया कि प्रत्येक मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता, अधिकार एवं शक्ति समाज को अर्पण कर दे। रूसो के शब्दों में, व्यक्तियों ने समझौते की शर्तों को इस प्रकार व्यक्त किया है-''हम में से प्रत्येक अपने शरीर को और अपनी समूची शक्ति को अन्य सबके साथ संयुक्त सामान्य इच्छा के सर्वोच्च निर्देशन में रखते हें और अपने सामूहिक स्वरूप में हम प्रत्येक सदस्य को समष्टि के अविभाज्य अंश के रूप में स्वीकार करते हैं।'' रूसो आगे लिखता है कि, ''समझौता करने वाले प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तिगत व्यक्तित्व के स्थान पर, समूह बनाने की इस प्रक्रिया में, एकदम नैतिक तथा सामूहिक निकाय का जन्म होता है जो कि उतने ही सदस्यों से मिलकर बना है जितने कि उसमें मत होते हैं। समुदाय बनाने के इस कार्य से ही निकाय को अपनी एकता, अपनी सामान्य सत्ता अपना जीवन तथा अपनी इच्छा प्राप्त होती है। समस्त व्यक्तियों के संगठन से बने हुए इस सार्वजनिक व्यक्ति को पहले नगर कहते थे, अब उसे गणराज्य अथवा राजनीतिक समाज कहते हैं। जब यह निष्क्रिय रहता है तो उसे राज्य कहते हैं और जब सक्रिय होता है तो सम्प्रभु तथा ऐसे ही अन्य निकायों से इसकी तुलना करने में इसे शक्ति कहते हैं।''

स्पष्ट है कि रूसो के अनुसार मनुष्य अराजक दशा को दूर करने के लिए जो समझौता करते हैं, वह दो पक्षों के बीच किया जाता है। एक पक्ष में मनुष्य अपने वैयक्तिक रूप में होते हैं और दूसरे पक्ष में मनुष्य अपने सामूहिक रूप में होते हैं। इस तरह समझौते के परिणामस्वरूप राज्य-संस्था के संगठित हो जाने पर मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता अधिकार एवं शक्ति को अपने से पृथक नहीं कर देते। वे इन्हें अपने पास रखते हैं पर व्यक्ति रूप से नहीं अपितु सामूहिक रूप से अर्थात् समाज के अंग के कारण। अब मनुष्य की जान और माल की रक्षा का उत्तरदायित्व अकेले अपने ऊपर नहीं रह जाता, वरन् सम्पूर्ण समाज का कर्तव्य हो जाता है कि वह प्रत्येक मनुष्य की स्वतन्त्रता और अधिकारों की रक्षा करे। राज्य-संस्था के संचालन की शक्ति जनता में निहित होती है क्योंकि जनता स्वयं प्रभुत्व शक्ति-सम्पन्न होती है। राज्य-शक्ति के प्रयोग का अधिकार जिस शासक वर्ग को दिया जाता है, वह जनता की आकांक्षा के अनुसार ही कार्य करता है, क्योंकि वह जनता की इच्छा को क्रिया रूप में परिणत करने का साधन मात्र है और अपने कर्त्तव्यों का भली-भाँति पालन न करने पर अपने पद से पृथक किया जा सकता है तथा उसके स्थान पर दूसरे शासक वर्ग को नियुक्त किया जा सकता है यदि वह जनता की इच्छानुसार कार्य करने का वचन दे।

रूसो के समझौता सिद्धान्त की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं

प्रकृतिक अवस्था के पहले चरण में सभी व्यक्ति निश्छल और सरल होते हैं, किन्तु कालान्तर में जनसंख्या में वृद्धि, तर्क के उदय और सम्पत्ति के प्रवेश के कारण वे संघर्षरत होते हैं। इस अराजकता को समाप्त करने और पुनः अपनी स्वतन्त्रता की स्थापना के लिए वे एक समझौता करते हैं। यह समझौता दो सार्वभौमिक लक्ष्यों पर आधारित होता है पहला यह कि मनुष्य जो समूह बनाते हैं उसके अपने धन-जन की रक्षा में सम्पूर्ण समाज की सहायता उन्हें प्राप्त हो सके और दूसरे वे अधिकतम स्वतंत्र हो सकें।

सामाजिक समझौते के क्रियाशीला एवं केन्द्रीय भाग का अर्थ है कि प्रत्येक सदस्य अपने सम्पूर्ण अधिकार एवं शक्तियाँ समाज को समर्पित कर देता है। इस हस्तान्तरण की शर्त है समता, अर्थात सभी के साथ एक ही-सी शर्त।

अतः इस समझौते से प्रत्येक को लाभ है। इस समझौते के फलस्वरूप उत्पन्न हुआ समाज कभी भी दमनकारी एवं स्वतन्त्रता विरोधी नहीं हो सकता। इस समूहीकरण से एक नैतिक और सामूहिक निकाय का जन्म होता है।

यद्यपि सभी व्यक्ति अपने अधिकारों का पूर्ण समर्पण करते हैं तथापि जो अधिकार विशुद्ध रूप से व्यक्तिगत हैं, मनुष्य उन्हें अपने पास रख सकते हैं। उदाहरणार्थ समाज का इस बात से कोई सम्बन्ध नहीं होता कि व्यक्ति क्या खाता है, क्या पहनता है। पर कोई विषय सार्वजनिक महत्त्व का है अथवा नहीं इसका निर्णय समाज ही करता है।

इस समझौते के फलस्वरूप हुई एकता पूर्ण है, क्योंकि ''प्रत्येक व्यक्ति सबके हाथों में अपने आपको समर्पित करते हुए किसी के भी हाथों में अपने को समर्पित नहीं करता'' एवं ''प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व और अपनी पूर्ण शक्ति को सामान्य प्रयोग के लिए, सामान्य इच्छा के सर्वोच्च निर्देशन के अधीन समर्पित कर देता है और एक समूह के अविभाज्य अंग के रूप में उन्हें प्राप्त कर लेता है। अतः समाज की सामान्य इच्छा सभी व्यक्तियों के लिए सर्वोच्च हो जाती है और प्रत्येक व्यक्ति उसके अधीन हो जाता है।'' रूसो के समाज में किसी भी सदस्य को विशेषाधिकार प्राप्त नहीं है, सबका स्थान समान है। इस तरह राज्य में नागरिक स्वतन्त्रता ही नहीं अपितु समानता भी प्राप्त करते हैं।

रूसो के अनुसार यह समझौता निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है जिससे प्रत्येक व्यक्ति सामान्य इच्छा में निरन्तर भाग लेता रहता है और इस तरह राज्य को निरन्तर सहमति प्रदान करता रहता है।

संविदा के कारण मनुष्य अपने शरीर को अपने अधिकारों और शक्तियों को जिस सार्वजनिक सत्ता को समर्पित करता है, वह सब व्यक्तियों से मिलकर ही निर्मित होती है। इसी को प्राचीनकाल में नगर राज्य कहते थे और अब गणराज्य या राज्य-संस्था या राजनीतिक समाज कहते हैं। इसका निर्माण जिन व्यक्तियों से मिलकर होता है उन्हीं को सामूहिक रूप से 'जनता' कहा जाता है। जब हम उन्हें राजशक्ति की अभिव्यक्ति में भाग लेते हुए देखते हैं तब हम उन्हें 'नागरिक' कहते हैं और जब राज्य के कानून पालकों के रूप में देखने हैं तो उन्हें हम 'प्रजा' की संज्ञा देते हैं। संक्षेप में, रूसो के अनुसार सामूहिक एकता 'राज्य', 'शक्ति', 'जनता', 'नागरिक' एवं 'प्रजा' सब कुछ है।

रूसो के अनुसार समझौता व्यक्ति के दो स्वरूपों के मध्य होता है। मनुष्य एक ही साथ निष्क्रिय प्रजाजन भी हैं और क्रियाशील सम्प्रभु भी। एक सम्प्रभुता पूर्ण संघ का सदस्य होने के नाते प्रत्येक व्यक्ति केवल उतना ही स्वतन्त्र नहीं रहता जितना वह पहले था बल्कि सामाजिक स्थिति के अन्तर्गत उनकी स्वतन्त्रता और भी अधिक बढ़ जाती है तथा सुरक्षित बन जाती है।

समझौते के फलस्वरूप समाज अथवा राज्य का स्वरूप सावयिक होता है। प्रत्येक व्यक्ति राज्य का अविभाज्य अंग होने के कारण राज्य से किसी भी प्रकार से अलग नहीं हो सकता और न वह राज्य के विरूद्ध आचारण ही कर सकता है। रूसो का समाज हॉब्स एवं लॉक की धारणा के समान व्यक्तिवादी नहीं है। रूसो का यह समझौता एक नैतिक तथा सामूहिक प्राणी का निर्माण करता है जिसका अपना निजी जीवन है, अपनी निजी इच्छा है तथा अपना निजी अस्तित्व है। रूसो इसे सार्वजनिक व्यक्ति कहकर पुकारता है। राज्य या समाज का सावयविक रूप बतलाते हुए रूसो ने एक स्थान पर लिखा है कि विधि निर्माण शक्ति सिर के समान, कार्यकारिणी बाहु के समान, न्यायपालिका मस्तिष्क के समान, कृषि, उद्योग तथा वाणिज्य पेट के समान और राजस्व रक्त-संचार के समान है।

समझौते द्वारा व्यक्ति के स्थान पर समष्टि और व्यक्ति की इच्छा के स्थान पर सामान्य इच्छा आ जाती है। सामान्य इच्छा का सिद्धान्त रूसो के सामाजिक समझौते का सर्वाधिक विशिष्ट अंग है। सामान्य इच्छा सदैव न्याययुक्त होती है और जनहित इसका लक्ष्य होता है।

सामाजिक समझौते से उत्पन्न होने वाला समाज अथवा राज्य ही स्वयं सम्प्रभुता सम्पन्न होता है। अपने निर्माण की प्रक्रिया में समाज स्वयं सम्प्रभुताधारी बन जाता है और समाज का प्रत्येक सदस्य इस प्रभुता-सम्पन्न निकाय का एक निर्णायक भाग होता है। समझौते से किसी प्रकार की स्थापना नहीं होती, अपितु सामान्य इच्छा पर आधिारित सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न समाज की स्थापना होती है और सरकार इस प्रभुतव शक्ति द्वारा नियुक्त यन्त्रमात्र होती है।

3.7.1 रूसो की प्रकृतिक अवस्था और सामाजिक संविदा की आलोचना

रूसो की प्रकृतिक अवस्था और सामाजिक संविदा सिद्धान्त की आलोचना के मुख्य बिन्दु निम्नांकित हैं-

रूसो ने प्रकृतिक अवस्था का जो चित्र प्रस्तुत किया है वह निराधार एवं काल्पनिक है। ऐतिहासिक तथ्य यह प्रमाणित नहीं करते कि मनुष्य कभी ऐसा शान्तिमय, सुखमय और आदर्श जीवन यापन करते थे। रूसो की प्रकृतिक अवस्था मानव-स्वभाव की गलत धारणा पर आधारित है।

रूसो प्रगति के सिद्धान्त का विरोध करते हुए कहता है कि मानव-समाज का निरन्तर ह्रास हो रहा है किन्तु यह विचार तर्क-सम्मत नहीं है। बल्कि मनुष्य की जिज्ञासा वृत्ति उसे नित्य नवीन क्षेत्रों की ओर उन्मुख करती है, पीछे की ओर नहीं धकेलती।

रूसो के अनुसार समझौता व्यक्ति एवं समाज में होता है, किन्तु दूसरी ओर समाज समझौते का परिणाम है-यह स्पष्टतः एक विरोधात्मक है और इस दृष्टिकोण से समझौता असंगत हो जाता है।

रूसो की यह धारणा भी गलत है कि राज्य का जन्म किसी समझौते का परिणाम है। राज्य का जन्म तो मानव के क्रमिक विकास द्वारा हुआ है।

रूसो समझौते के द्वारा व्यक्ति की खुशियों, कामनाओं और स्वतन्त्रता को, सामान्य इच्छा की आड़ में राज्य की इच्छा पर न्यौछावर कर देता है।

रूसो का समझौता राज्य-संस्था के अभाव में सम्भव नहीं है। समझौते के लिए यह आवश्यक है कि उसका प्रतिपादन करा सकने वाली कोई शक्ति विद्यमान हो अतः राज्य-संस्था के प्रादुर्भूत होने के बाद तो मनुष्य आपस में कोई समझौता कर सकते हैं, उसके पहले नहीं। अराजक दशा में भी मनुष्य परस्पर मिलकर कोई समझौता कर सकते हैं, यह कतई युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता।

रूसो के सामान्य इच्छा की जो व्याख्या की है, वह राज्य को स्वेच्छाचारी बना देती है। चूँकि विधि निर्माण इसी सामान्य इच्छा का अबाध अधिकार है, अतः यह अन्याय भी कर सकती है। इसकी आड़ में निरंकुशता एवं अन्याय को प्रोत्साहन मिल सकता है।

3.8 रूसो की सामान्य इच्छा सम्बन्धी विचार

रूसो के सामाजिक संविदा के सिद्धान्त में 'सामान्य इच्छा' का बहुत अधिक महत्व है। 'सामान्य इच्छा' का सिद्धान्त राजनीतिक चिन्तन के लिए रूसो की अमर देन है। लेकिन जहाँ जनतन्त्र के समर्थकों ने मुक्त हृदय से इसका स्वागत किया है वहाँ निरंकुश शासकों ने इसका दामन पकड़ कर जनता पर मनमाने अत्याचार भी ढाए हैं। शायद ही कोई सिद्धान्त इतना विवादास्पद रहा है जितना की सामान्य इच्छा का सिद्धान्त।

रूसो की सामान्य इच्छा को भली-भाँति समझने के लिए सबसे पहले हमें इच्छा के स्वरूप को समझना चाहिए। रूसो के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति की दो प्रमुख इच्छाएँ होती हैं-

1. यथार्थ इच्छा (Actual Will)

2. वास्तविक इच्छा (Real Will)

3.8.1 यथार्थ इच्छा-

यथार्थ इच्छा वह इच्छा है जो स्वार्थगत, संकीर्ण एवं परिवर्तनशील है। जब मनुष्य केवल अपने लिए ही सोचता है तब वह यथार्थ इच्छा के वशीभूत होता है। रूसो के अनुसार मनुष्य की यह इच्छा भावना-प्रधान होती है जिसके वशीभूत होकर मनुष्य विवेकहीनता से कार्य करता है। इनमें व्यक्ति का दृष्टिकोण संकीर्ण तथा अन्तर्द्वन्द्वमयी होता है।

3.8.2 वास्तविक इच्छा-

इसके विपरीत वास्तविक इच्छा वह इच्छा है जो विवेक, ज्ञान एवं सामाजिक हित पर आधारित होती है। रूसो के अनुसार यही एकमात्र श्रेष्ठ इच्छा है एवं स्वतन्त्रता की द्योतक है। यह व्यक्ति की वह उत्कृष्ट इच्छा है जो सुसंगठित, स्वार्थहीन, कल्याणकारी एवं सुसंस्कृत होती है। यह इच्छा व्यक्ति में स्थाई रूप से निवास करती है। इस इच्छा से संचालित व्यक्ति यथार्थ इच्छा की भाँति अस्थाई परिणामों की ओर आकर्षित न होकर स्थाई निर्णयों को स्वीकार करता है। इसके लिए व्यक्ति सार्वजनिक हित का चिन्तन करते हुए स्वार्थ को निम्न स्थान देता है। मनुष्य की इस इच्छा का अभिव्यक्तिकरण व्यक्ति और समाज के मध्य होता है।

रूसो के अनुसार यथार्थ इच्छा व्यक्ति के 'निम्न स्व' पर आधारित होती है तथा आदर्श इच्छा उसके 'श्रेष्ठ स्व' पर।

यथार्थ और वास्तविक इच्छा के भेद पर ही 'सामान्य इच्छा' का विचार आधारित है। वास्तव में सामान्य इच्छा समाज के व्यक्तियों की आदर्श इच्छाओं का निचोड़ अथवा उनका संगठन और समन्वय है। सामान्य इच्छा सब नागरिकों की इच्छा है, जबकि वे अपने व्यक्तिगत हितों के लिए नहीं बल्कि सामान्य कल्याण के इच्छुक होते हैं। यह सबकी भलाई के लिए सबकी आवाज है। इस प्रकार से सामान्य इच्छा सामूहिक कल्याण का प्रतिनिधित्व करती है।

सामान्य इच्छा की व्याख्या करते हुए रूसो कहता है- ''मेरी सामान्य इच्छा के अनुबन्ध में सभी लोग अपना सर्वस्व राज्य को सौंप देते हैं। राज्य का हित सभी नागरिकों का सर्वश्रेष्ठ हित हैं।'' वह आगे कहता है- ''हमारे समस्त क्रियाकलाप हमारी इच्छा के परिणाम है किन्तु राज्य के कल्याणार्थ जो मेरी इच्छा है वह व्यक्तिगत लाभों की इच्छा से या समाज के कल्याण की इच्छा से अधिक नैतिक है, क्योंकि व्यक्तिगत लाभों या समाज के लोगों की इच्छा का ध्येय बदल सकता है। चूँकि 'सामान्य इच्छा' समस्त नागरिकों की सर्वश्रेष्ठ इच्छाओं का योग है, अतः

वह सर्वसाधारण की पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न इच्छा ही है।'' आगे चलकर रूसो पुनः लिखता है, ''चूँकि सामान्य इच्छा मेरी ही सर्वश्रेष्ठ इच्छा है अतः मुझे इस इच्छा का पालन अवश्य ही करना चाहिए। यदि मैं किन्हीं स्वार्थोंवश उस इच्छा को पूरा नहीं करता तो समस्त समाज की सामान्य इच्छा मुझे मजबूर कर सकती है कि मैं तदनुसार आचरण करूँ। क्योंकि सामान्य इच्छा के आदर्शों का पालन करने में स्वयं अपने आदर्शों का ही पालन कर रहा हूँ और इस प्रकार सच्ची स्वतन्त्रता का उपभोग कर रहा हूँ।''

रूसो के मतानुसार संसदीय प्रशासन प्रणाली में सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व सम्भव नहीं है, क्योंकि ''जब राष्ट्र अपने प्रतिनिधि नियुक्त कर देता है तब सामान्य इच्छा स्वतन्त्र नहीं रह जाती है। सत्य यह है कि सामान्य इच्छा का अस्तित्व ही नहीं रहता।'' रूसो का कहना है कि प्रदत्त सामान्य इच्छा का अर्थ तो मृत सामान्य इच्छा है।

स्पष्ट है कि रूसो के अनुसार सामान्य इच्छा व्यक्ति का ही विशिष्ट रूप नहीं वरन राज्य का भी है। प्रत्येक समुदाय एवं संस्थान, जिसके सदस्यों में सार्वजनिक भावना होती है, एक सामूहिक मस्तिष्क की विद्यमानता को इंगित करता है। यह सामूहिक मस्तिष्क व्यक्तियों के मस्तिष्कों के योग से उच्चतर होता है। इस प्रकार राज्य को, जो कि सबसे उच्च समुदाय है, सामूहिक मस्तिष्क भी उच्चतर होगा एवं एक नैतिक अस्तित्व रखेगा। रूसो का विचार है कि जिस अनुपात में लोक सार्वजनिक हित को सामने रख सकेंगे और अपने व्यक्तिगत हितों को भुला सकेंगे उसी अनुपात में सामान्य इच्छा पूर्ण होगी।

3.8.3 सामान्य इच्छा का निर्माण

रूसो के अनुसार सामान्य इच्छा के निर्माण की प्रक्रिया 'सर्वसाधारण की इच्छा' से प्रारम्भ होती है। व्यक्ति समस्याओं को पहले स्वयं के दृष्टिकोण से देखते हैं जिसमें उनकी यथार्थ एवं वास्तविक दोनों इच्छाएँ शामिल रहती हैं, किन्तु राजनीतिक चेतना वाला व्यक्ति अपने विवेक के प्रकाश में इन इच्छाओं का अशुद्ध और अनैतिक भाग समाप्त कर देता है और तब केवल वास्तविक इच्छा ही बची रहती है। इच्छाओं का ऐसा शुद्ध समन्वय ही सामान्य इच्छा बन जाती है। सामान्य इच्छा के निर्णय आदर्श होते हैं जिनका पालन सभी व्यक्ति करते हैं। सार्वभौमिकता का प्रतिनिधित्व सामान्य इच्छा ही करती है। जब सार्वभौमिकता लोककल्याण के हित में कार्य करती है तो सामान्य इच्छा का पालन होता है।

3.8.4 सामान्य इच्छा, जनमत और समस्त की इच्छा में अन्तर

सामान्य इच्छा में सामान्य हित पर बल दिया जाता है जबकि जनमत में संख्या बल पर। सामान्य इच्छा एक व्यक्ति या थोड़े व्यक्तियों की इच्छा भी हो सकती है, किन्तु जनमत का आधार यह है कि किस विषय पर जनता को कितना समर्थन प्राप्त है।

रूसो के अुनसार सामान्य इच्छा केवल सामान्य हितों का विचार करती है, समस्त इच्छा वैयक्तिक हितों का विचार करती है और विशेष इच्छाओं का योग मात्र है। सामान्य इच्छा का 'सम्पूर्ण' के रूप में (व्यक्तियों के एक समूह मात्र के रूप में नहीं) समाज की इच्छा को अभिव्यक्त करती है, वह सदस्यों की परस्पर विरोधी इच्छाओं के बीच समझौता नहीं है बल्कि यह एकल तथा एकात्मक इच्छा है। हॉब्स का यह कथन कि 'लेवियाथन' की सर्वोच्च इच्छा सबकी इच्छाओं से कहीं अधिक है और वह एक ही व्यक्ति में उन सबका एकीकृत हो जाना है, रूसो की सामान्य इच्छा पर भी लागू होता है। सामान्य इच्छा केवल वास्तविक इच्छा का सार है और सदैव सामान्य हित की ओर ही संकेत करती है। सामान्य इच्छा समाज के उच्चतम विचार की अभिव्यक्ति होती है और यह आवश्यक

नहीं है कि समाज की बहुसंख्या द्वारा यह निर्धारित हो। सामान्य इच्छा में भावना की प्रधानता है जबकि सर्वसम्मति अथवा समस्त की इच्छा में सम्मति देने वाले व्यक्तियों की संख्या का महत्व है। वास्तविक इच्छा की प्रधानता होने पर जनहित में वृद्धि होगी और यथार्थ इच्छा की प्रधानता होने पर केलव वर्ग विशेष की स्वार्थ-सिद्धि होगी। सामान्य इच्छा में अहित की कोई गुंजाइश ही नहीं है। वह तो सदा श्रेष्ठ और शुभ है।

3.8.5 रूसो की सामान्य इच्छा की विशेषताएँ-सामान्य इच्छा विवेकयुक्त एवं बुद्धिजन्य होने के कारण वह आत्म-विरोधी नहीं होती। इस इच्छा का अभिप्राय ही यह है कि विभिन्नता में एकता स्थातिप हो जाए। रूसो के स्वयं के शब्दों में-''यह राष्ट्रीय चरित्र की एकता को उत्पन्न और स्थिर करती है और उन समान गुणों में प्रकाशित होती है जिनके किसी राज्य के नागरिकों में होने की आशा की जाती है''

सामान्य इच्छा स्थायी एवं शाश्वत है। ज्ञान और विवेक पर आधारित होने के कारण इसमें स्थिरता होती है। रूसो के शब्दों में-''इसका कभी अन्त नहीं होता, यह कभी भ्रष्ट नहीं होती। यह अनित्य, अपरिवर्तनशील तथा पवित्र होती है।''

सामान्य इच्छा सदैव शुभ, उचित तथा कल्याणकारी होती है और सदैव जनहित को लेकर चलती है। यह इच्छा श्रेष्ठ इच्छा है क्योंकि यह सबकी वास्तविक इच्छाओं का योग है। सामान्य इच्छा के होते हुए प्रथम तो कोई दोषपूर्ण निर्णय हो ही नहीं सकता और यदि ऐसा हो भी जाए तो दोष सामान्य इच्छा का नहीं वरन् उसके संचालन करने वालों का होता है।

सामान्य इच्छा सम्प्रभुताधारी है। सम्प्रभुता के समान ही वह अविभाज्य अदेय है। यह छोटे-छोटे समूहों में विभक्त नहीं हो सकती। इसे सरकार के विभिन्न अंगों-कार्यपालिका, न्यायपालिका आदि में भी विभक्त नहीं किया जा सकता। इसके विभाजन का अर्थ इसे नष्ट करना है। सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व भी इसके अतिरिक्त और कोई नहीं कर सकता। सम्प्रभुता के समान ही सामान्य इच्छा भी निरपेक्ष है। रूसो के अनुसार सामान्य इच्छा द्वारा प्रेरित कार्य सदैव निष्काम होते हैं। यह निष्काम दो प्रकार से होती है-प्रथम, इसका ध्येय सदैव सामान्य हित होता है और द्वितीय, यह सामान्य हित की बातों में जनसेवा भाव से प्रेरित होती है।

सामान्य इच्छा को राज्य का अधिकार मान लेने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्य शक्ति से नहीं, अपितु जनता की सहमति से संचालित होता है।

3.8.6 रूसो की सामान्य इच्छा और विधि-निर्माण के सम्बन्ध में विचार

रूसो के अनुसार सामान्य इच्छा का महत्वपूर्ण कार्य विधि-निर्माण करना है। रूसो के ही शब्दों में संविदा राज्य को अस्तित्व एवं जीवन प्रदान करता है और व्यवस्थापन द्वारा हमें उसे गति तथा इच्छा प्रदान करनी होती है, क्योंकि जिस मूल संविदा के द्वारा राज्य का निर्माण तथा संगठन होता है, वह किसी भी प्रकार यह निर्धारित नहीं करता कि राज्य को अपने प्रतिक्षण के लिए क्या करना चाहिए।''

विधि-निर्माण का कार्य सम्प्रभुताधारी का है और सम्प्रभुता सामान्य इच्छा में निहित है, अतः विधि-निर्माण एकमात्र सामान्य इच्छा का ही कार्य होना चाहिए। सामान्य इच्छा के अतिरिक्त अन्य किसी के द्वारा विधायी कार्य नहीं किया जा सकता और चूँकि विधि सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति है अतः प्रत्येक मनुष्य के लिए उसकी आज्ञा का पालन करना आवश्यक है। विधि अन्यायपूर्ण नहीं हो सकती क्योंकि वह उस सामान्य इच्छा का आदेश होती

है। जिसका उद्देश्य सर्वसाधारण का वास्तविक कल्याण होता है। रूसो के अनुसार विधि के अधीन रहने पर भी हम स्वतन्त्र रह सकते हैं, यदि विधि स्वयं हमारी इच्छा को ही अभिव्यक्त करती हो। विधि का अस्तित्व भी तभी है जब सब लोग तद्नुसार कार्य करते रहें। रूसो के विचारों में यहाँ एक विरोधाभास है। वह सामान्य इच्छा द्वारा अभिव्यक्त विधि की सर्वोच्चता का भी उतना ही समर्थक है जितना व्यक्तिगत अधिकारों का। वह स्वयं कहता है, ''राज्य अपने सदस्यों पर ऐसा कोई बन्धन नहीं लगा सकता जो समाज के लिए बेकार हो।''

चूँकि सामान्य इच्छा सदैव सद् होती है, किन्तु उसका निर्देशन करने वाली निर्णयबुद्धि पूर्ण ज्ञानयुक्त नहीं होती अतः जनता को सद-असद या शुभ-अशुभ का ज्ञान कराने के लिए और दूरदर्शितापूर्ण एवं विवेक-सम्मत विधि निर्माण करने के लिए रूसो विधि निर्माता का विधायक (स्महपेसंजवत) की भी व्यवस्था करता है। इस विधायक को अद्वितीय प्रतिभा सम्पन्न और उचित विधियों एवं संस्थाओं की व्यवस्था करने में समर्थ होना चाहिए। उसे एक ऐसा विद्वान दार्शनिक होना चाहिए जो जनसाधारण की विभिन्न आवश्यकताओं को समझता हो और परिस्थितियों के अनुरूप विधियों की रूपरेखा बना सकता हो। उसका कार्य मात्र एक विशेषज्ञ परामर्शदता का है। विधियों को कार्यान्वित करने का कार्य सम्प्रभुताधारी ही करेगा।

3.8.7 रूसो की सामान्य इच्छा के सिद्धान्त की आलोचना

रूसो की सामान्य इच्छा राजदर्शन को एक अमूल्य देन है तथापि इस सिद्धान्त की निम्नलिखित आधारों पर कटु आलोचना की गई है-

रूसो की सामान्य इच्छा का सिद्धान्त बड़ा अस्पष्ट और जटिल है। यह बताना कठिन है कि यह सामान्य इच्छा कहाँ है। रूसो की सामान्य इच्छा की परिभाषा में हमको कहीं भी स्पष्ट प्रकाश नहीं मिलता।'' वेपर - कहता है कि ''जब रूसो सामान्य इच्छा का पता ही हमको नहीं दे सकता तो इस सिद्धान्त के प्रतिपादन का लाभ ही क्या हुआ? यद्यपि रूसो ने हमको सामान्य इच्छा के बारे में बहुत कुछ बतलाया है फिर भी जो कुछ बतलाया गया है वह पूर्णतः अपर्याप्त है।

रूसो के बचाव में हम यहीं कह सकते हैं कि वह पूर्णतः दोषी नहीं है। यह विषय ही बड़ी जटिलता लिए हुए है। 'सामान्य इच्छा' कितनी भी वास्तविक क्यों न हो, वह साकार नहीं हो सकती और उसका यह निराकार स्वरूप ही उसके विश्लेषण को बड़ा कठिन बना देता है।

सामान्य इच्छा जिस सार्वजनिक हित पर आधारित है उसे जानना कठिन है। सार्वजनिक हित की व्याख्या शासकगण अपनी इच्छानुसार करते हैं। ऐसे में सामान्य इच्छा के माध्यम से शासकगण इसका दुरूपयोग भी कर सकते हैं।

मानवीय इच्छा को यथार्थ और वास्तविक इच्छा में बाँटना सम्भव नहीं है। क्योंकि मानवीय इच्छा तो ऐसी जटिल, पूर्ण, अविभाज्य समष्टि है यदि ऐसे विभाजन की कल्पना कर भी ली जाय तो यह निर्णय करना असम्भव सा होगा कि कौन सी इच्छा यथार्थ है और कौन सी वास्तविक?

'सामान्य इच्छा' का सिद्धान्त एक ओर तो राज्य की निरंकुशता की स्थापना करता है और दूसरी ओर क्रान्ति के औचित्य को सिद्ध करता है। रूसो के सिद्धान्त में व्यक्ति अपने समस्त अधिकार 'सामान्य इच्छा' को समर्पित कर देता है जो सर्वोच्च शक्ति के रूप में शासन करती है। यद्यपि उसका उद्देश्य वैयक्तिक स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखना है

तथापि बहुमत से असहमत होने वाले व्यक्तियों के लिए बचाव के सभी मार्ग बन्द हैं। रूसो ने व्यक्ति की तुलना में राज्य और सरकार के हाथ में असाधारण सत्ता और शक्ति सौंप दी है। पुनश्च, रूसो लिखता है कि, ''जनता सदैव अपना हित चाहती है, किन्तु वह सदैव इसे नहीं देख सकती।'' अतः जनता को उसका हित बतलाने वाले नेता और पथ-प्रदर्शक सम्पूर्ण सत्ता हथियाकर निरंकुश शासक बन सकते हैं। जोन्स का कहना है कि ''सामान्य इच्छा की धारण के प्रयोग में मनुष्य का भय यह है कि राज्य में तानाशाही की प्रवृत्ति का उदय हो जाता है।''

सामान्य इच्छा का सिद्धान्त छोटे राज्यों में भले ही सफल हो सके, पर आधुनिक विशाल और विविध हितों से परिपूर्ण जनसंख्या वाले राज्यों में सफल नहीं हो सकता। आधुनिक राज्यों में सामान्य हित का निर्धारण करना लगभग असम्भव ही है।

रूसो सामान्य इच्छा के निर्धारण के लिए राजनीतिक दलों की सत्ता और प्रतिनिधि मूलक शासन-व्यवस्था का विरोध करता है जबकि इनका होना आधुनिक प्रजातान्त्रिक राज्यों की सफलता के लिए अनिवार्य है।

रूसो की सामान्य इच्छा न तो सामान्य है और न इच्छा ही, वरन् निराधार एवं अमूर्त चिन्ता मात्र है।

वस्तुतः रूसो की सामान्य इच्छा के सिद्धान्त की गम्भीरतम आलोचना यही लगती है कि न तो ''यह सामान्य है और न इच्छा ही'' इस आपत्ति का अर्थ यह है कि इच्छा सामान्य होने पर इच्छा ही नहीं रहती। दूसरे शब्दों में इच्छा किसी विशेष की हो सकती है। व्यक्ति अपनी जन्मजात शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक प्रवृत्तियों को सन्तुष्ट करने के लिए तथा अपनी जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए कुछ कामना करता है और कुछ चीजें चाहता है और यही वास्तव में उसकी इच्छा है। इस प्रकार की इच्छा अलग-अलग व्यक्तियों में निवास करती है क्योंकि अलग-अलग व्यक्तियों का अपना-अपना जीवन होता है। वास्तव में सामान्य जीवन जैसी कोई चीज नहीं है और जब सामान्य जीवन ही नहीं है तो सामान्य इच्छा कैसे हो सकती है? हो सकता है कि एक व्यक्ति अपने कल्याण की इच्छा करे और अपने ही सरीखे दूसरे लोगों के कल्याण की इच्छा करें किन्तु इन दोनों ही सूरतों में इच्छा विशिष्ट होगी, सामान्य नहीं।

3.8.8 रूसो की सामान्य इच्छा के सिद्धान्त का महत्व

रूसो की सामान्य इच्छा के सिद्धान्त की विभिन्न आलोचनाओं के बावजूद राजदर्शन में इसका महत्वपूर्ण स्थान है-

रूसो की सामान्य इच्छा ने आदर्शवादी विचारधारा की नींव डाली जिसे आधार मानकर टी.एन. ग्रीन ने राज्य का मुख्य आधार बल न मानकर इच्छा को माना। उसने इसी सिद्धान्त की सहायता से यह प्रमाणित करने का प्रयास किया कि जनतन्त्र बहुमत की शक्ति का परिणाम नहीं है वरन् सक्रिय निःस्वार्थ इच्छा का फल है।

रूसो की सामान्य इच्छा राजनीतिक कार्यों में पथ-प्रदर्शन का कार्य करती है। उसके अनुसार सामान्य इच्छा का प्रमुख कार्य विधि निर्माण और शासनतन्त्र की नियुक्ति और उसे भंग करना है।

अपने सिद्धान्त के द्वारा रूसो ने व्यक्तिगत स्वार्थ की अपेक्षा सामान्य हित को उभारा है और बतलाया है कि सामान्य उद्देश्य की सामान्य चेतना ही समाज को स्वस्थ और परिष्कृत बनाती है।

रूसो ने एक ऐसे समाज की स्थापना की जिसमें नागरिक नैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर सके। रूसो के अनुसार व्यक्ति के अधिकार-स्वतन्त्रता और नैतिकता, सामान्य इच्छा के द्वारा प्राप्त हो सकते हैं। रूसो के इस सिद्धान्त के आगे

चलकर कल्याणकारी राज्य सिद्धान्त के विकास में बड़ा योग दिया। सामान्य इच्छा के सिद्धान्त ने इस विचार का पोषण किया कि राज्य एक नैतिक संगठन है जो मानव की असामाजिक एवं स्वार्थी प्रवृत्तियों का परिष्कार करते हुए सामूहिक कल्याण पर ध्यान देता है।

सामान्य इच्छा का सिद्धान्त समाज एवं व्यक्ति में शरीर तथा उसके अंगों का सम्बन्ध स्थापित करके मानव के सामाजिक स्वरूप को दृढ़ करता है।

रूसो की सामान्य इच्छा स्पष्ट करती है कि राज्य एक प्रकृतिक संस्था है और हम उसका पालन इसलिए करते हैं क्योंकि सामान्य इच्छा हमारी आन्तरिक इच्छा का प्रतिनिधित्व मात्र है।

3.9 रूसो की सम्प्रभुता सम्बन्धी अवधारणा

रूसो का सम्प्रभुता सिद्धान्त हॉब्स, लॉक तथा बोदाँ के विचारों से प्रभावित है। उसने सम्प्रभुता की व्याख्या हॉब्स की पूर्णता और संक्षिप्तता के साथ तथा लॉक की विधि के आधार पर की है।

रूसो ने सम्प्रभुता को सामान्य इच्छा में केन्द्रित माना है। यह समाज अथवा समुदाय में निवास करती है। सम्प्रभुता को जनता में प्रतिष्ठित करके रूसो निरंकुशवाद के विरूद्ध एक बहुत बड़ा शस्त्र प्रस्तुत करता है। उसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति प्रभु शक्ति का हिस्सेदार है। चूँकि समाज स्वयं सम्प्रभु है, अतः वहीं सर्वोच्च शक्ति है और उस शक्ति का कोई शत्रु नहीं हो सकता। जनता सरकार के कार्यों पर कड़ी और सचेत निगाह रखती है। यहाँ विद्रोह का कोई प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि जनता स्वयं सम्प्रभु है।

रूसो ने सम्प्रभुता को 'सामान्य इच्छा' में निहित करके एक असीम, अविभाज्य और अदेय सार्वभौमिकता का समर्थन किया है। हॉब्स की भाँति निरंकुशता के स्तर में उसने कहा है कि ''जिस प्रकार प्रकृति मनुष्य को अपने अंगों पर निरंकुश सत्ता देती है उसी प्रकार सामाजिक समझौता भी राज्य को अपने अंगों पर सम्पूर्ण निरंकुश सत्ता प्रदान करता है।'' किन्तु हॉब्स की निरंकुशता और रूसो की निरंकुशता में एक बहुत बड़ा अन्तर है। जहाँ हॉब्स की निरंकुशता शासक से सम्बद्ध है वहाँ रूसो की जनता से। रूसो ने हॉब्स की निरंकुश प्रभुता और लॉक की सार्वजनिक इच्छा को एक साथ मिलाकर लोकप्रिय सम्प्रभुता को जन्म दिया है।

रूसो के अनुसार सम्प्रभुता सम्पूर्ण जनता में सामूहिक रूप से निवास करती है अथवा यह 'सामान्य इच्छा' को प्रदर्शित करती है, अतः इसका प्रतिनिधित्व नहीं हो सकता। वास्तव में यह सम्प्रभुता ही विधियों का मूल स्रोत है।

रूसो की सम्प्रभुता सिद्धान्त भी विराधाभासों से पूर्ण है। एक ओर तो वह सम्प्रभुता को असीमित बतलाता है। दूसरी ओर यह भी विचार रखता है कि सम्प्रभुता कोई ऐसा कार्य नहीं कर सकती जो सामान्य हित के विरोध में हो। सम्प्रभु को सर्वोच्च शक्तियाँ देने पर भी रूसो का आग्रह है कि शासक को उचित प्रकार से शासन करना चाहिए तथा न्याय और समानता का नियम सदैव लागू होना चाहिए। यह विरोधाभास लोकप्रिय शासन के प्रति रूसो के अगाध प्रेम के कारण ही है।

निष्कर्ष रूप में, रूसो लोकप्रिय प्रभुसत्ता में विश्वास रखता है। उसके राजनीतिक दर्शन का रहस्य 'एक राजा के स्थान पर लोकप्रभुत्व को स्थापित करने में है। क्योंकि समाज ही सम्प्रभुता का स्रोत और स्वामी है।

3.10 रूसो के शासन सम्बन्धी विचार

लॉक की भाँति ही रूसो भी राज्य और शासन अथवा सरकार के मध्य अन्तर स्पष्ट करता है। उसके शब्दों में ''सामाजिक समझौते द्वारा निर्मित सम्पूर्ण समाज जिसमें कि सामान्य इच्छा का वास होता है राज्य है। जबकि शासन अथवा सरकार केवल वह व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह है जिसको समाज द्वारा यह अधिकार दिया जाता है कि वह सम्प्रभुता की इच्छा लागू करे।'' अर्थात् यहाँ स्पष्ट है कि व्यक्ति एक बुरे शासक का विरोध कर सकता है, राज्य का नहीं।

रूसो के विचार से स्पष्ट है कि सामाजिक समझौते द्वारा राज्य अथवा सम्प्रभुता का जन्म होता है, शासन या सरकार का नहीं। शासन तो एक मध्यवर्ती संस्था (।द प्दजमतउमकपंजम ठवकल) है जिसकी स्थापना सम्प्रभुता ओर जनता के बीच की जाती है ताकि लोगों की नागरिक और राजनीतिक स्वतन्त्रता की रक्षा हो सके। इसी क्रम में शासन के निर्माण के लिए 'एकत्रित सम्प्रभु जनता' ने पहले शासन का स्वरूप निर्धारित किया और तब यह निश्चित किया कि इस प्रकार स्थापित पदों पर किन व्यक्तियों की नियुक्ति की जाए। रूसो का विश्वास है कि प्रत्येक शासन का रूप जनतन्त्र से ही आरम्भ होता है।

रूसो के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि राज्य पूरे समाज का सूचक है जो अनुबन्ध द्वारा बना है और सामूहिक इच्छा को अभिव्यक्त करता है। इसके विपरीत शासन केवल शक्ति या व्यक्ति-समूह का सूचक है जो समाज द्वारा आदेश पाकर सामान्य इच्छा को कार्यान्वित करने में तत्पर है। रूसो ने सरकार को न्याय-रक्षक मण्डल अथवा राजा कहकर पुकारा है। सरकार या शासन सम्प्रभु सम्पन्न जनता की नौकर मात्र है और सम्प्रभु जनता द्वारा दी गई शक्तियों को प्रयोग ही कर सकता है। जनता अपनी इच्छानुसार सरकार की शक्ति को सीमित या संशोधित कर सकती है और उसे वापिस भी ले सकती है। यहाँ हॉब्स और रूसो की धारण में स्पष्ट अन्तर है। हॉब्स के अनुसार शासन को न तो बदला जा सकता है और न उसके विरूद्ध विद्रोह ही हो सकता है क्योंकि जनता और शासन के सम्बन्ध में आधार संविदा है। इसके विपरीत रूसो के शासन या सरकार का निर्माण किसी संविदा द्वारा नहीं बल्कि सम्प्रभु सम्पन्न जनता के प्रत्यादेश द्वारा होता है।

रूसो ने शासन का वर्गीकरण किया है, किन्तु यह वर्गीकरण रूसो के राजनीतिक चिन्तन की सबसे कमजोर कड़ी है। उसके अनुसार शासन के निम्न रूप हो सकते हैं:-

(1) राजतन्त्र (Monarchy) (2) कुलीनतन्त्र (Aristocracy)

(3) जनतन्त्र (Democracy) (4) मिश्रित (Mixed)

जिस सरकार की बागडोर एक व्यक्ति के हाथ में होती है तो उसे राजतन्त्र, कुछ व्यक्तियों के हाथ में होती है तो उसे कुलीनतन्त्र और समस्त जनता या उसके बहुमत के हाथ में होती है तो उसे जनतन्त्र कहा गया है। सरकार के इन तीनों प्रकारों की रूपरेखा बदलती रहती है। चौथा वर्ग मिश्रित सरकार का है। सरकार के इन रूपों में सर्वोत्तम कौन-सा है, सैद्धान्तिक रूप से यह बताना सम्भव नहीं है। परिस्थितियों और देशकाल के अनुसार कोई भी शासन सर्वोत्तम या निकृष्टतम हो सकता है। हाँ, यह अवश्य है कि शासन की प्रगति का निश्चित चिन्ह् जनसंख्या है। जिस राज्य में जनसंख्या बढ़ती जाएगी, समझना चाहिए कि वह प्रगति की ओर बढ़ रहा है। रूसो की यह बात आज के युग में निश्चय ही विचित्र लगती है।

उल्लेखनीय है कि शासन के विविध प्रकारों में रूसो का सुझाव यूनानी नगर राज्यों के प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र की ओर है। वह प्रतिनिधि सभाओं को राजनीतिक पतन का चिन्ह् मानता है। प्रतिनिधित्व का अर्थ है- स्वतन्त्रता का हनन।

ब्रिटेन की निवा्रचन प्रथा के विषय में उसका मत था कि वहाँ नागरिक केवल निर्वाचन काल में ही स्वतन्त्र होते हैं, इसके बाद दास बन जाते हैं। रूसो ने देखा कि सरकार में लोक नियन्त्रण से बचने और अपनी शक्तियों का प्रसार करने की प्रवृत्ति होती है। अतः उसने यह मत प्रकट किया कि सरकार द्वारा शक्ति के अपहरण को रोकने के लिए यह आवश्यक है कि प्रभुत्व सम्पन्न जनता की समय-समय पर सभाएँ हुआ करें जो यह निश्चय करे कि वर्तमान शासन व्यवस्था और अधिकारियों में कोई परिवर्तन किया जाना उचित है अथवा नहीं। उसका यह भी कहना था कि जब जनता प्रभुत्व सम्पन्न सभा के रूप में एकत्रित होती है तो सरकार का क्षेत्राधिकार समाप्त हो जाता है। रूसो के दृष्टिकोण में इस विचार का पूर्वाभास मिलता है कि निश्चित अवधि पर संविधान की तथा सरकारी अधिकारियों के कार्यों की समीक्षा की जानी चाहिए।

3.11 रूसो के कानून,स्वतंत्रता,समानता,धर्म एवं शिक्षा सम्बन्धी विचार

3.11.1 रूसो का कानून सम्बन्धी विचार

रूसो ने अपनी रचना 'राजनीतिक अर्थशास्त्र' में कानून के विशेष महत्त्व देते हैं। कानून ही से प्रत्येक व्यक्ति को यह शिक्षा मिलती है कि वह अपने निर्धारित विचारों के अनुरूप कार्य करे और अपने से असंगत रूप के कार्य से बचे। यदि कानून का पालन नहीं किया जाएगा तो नागरिक समाज की व्यवस्था समाप्त हो जाएगी और मनुष्य को पुनः प्रकृतिक अवस्था में लौट जाना पड़ेगा। अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ सामाजिक अनुबन्ध में रूसो ने चार प्रकार के कानूनों का वर्णन किया है-(1) राजनीतिक कानून जिनके द्वारा सम्प्रभुता का राज्य के साथ सम्बन्ध निर्धारण होता है, (2) दीवानी कानून जिनसे नागरिकों के पारस्परिक सम्बन्ध निर्धारित होते हैं, (3) फौजदारी कानून जो कानून की आज्ञा के उल्लंघन का दण्ड निश्चिय करते हैं और (4) जनमत नैतिकता तथा रीति-रिवाज। रूसो के अनुसार ये राज्य के वास्तविक संविधान हैं और के हृदय-पटल पर अंकित हैं।

रूसो के अनुसार कानून सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति है। सामान्य इच्छा सदैव जनता के कल्याण की कामना करती है, अतः यह कभी भी कानून द्वारा अन्याय करने की इच्छा नहीं कर सकती। ''कानून हमारे आन्तरिक संकल्प की अभिव्यक्ति है अतः स्वतन्त्रता और कानूनों की आज्ञाकारिता में कोई विरोध नहीं है।''

रूसो के अनुसार कानून ही समाज में समानता लाता है और कोई भी राज्य केवल तभी तक वैध है जब तक वह कानून के अनुसार कार्य करता है। स्पष्ट है कि रूसो भी कानून को उसकी प्रकार सर्वोच्चता देता है जिस प्रकार प्लेटो ने दी थी। अन्तर केवल यही है कि रूसो अपने कानून रूपी प्रभु को सामान्य इच्छा के अधीन कर देता है।

कानून पर विचार करते समय रूसो ने विधि निर्माता की आवश्यकता को नहीं भुलाया है। सही रूप में कानून की व्यापकता का उद्घाटन करने के लिए विधि निर्माता तथा विधायक का होना जरूरी है। किन्तु रूसो इसके लिए अद्वितीय बौद्धिक क्षमतायुक्त प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तियों की ही संस्तुति करता है।

3.11.2 रूसो का स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार

रूसो स्वतन्त्रता का महान पैगम्बर था। अपने ग्रन्थ 'Social Contract में उसने लिखा है- ''स्वतन्त्रता मानव का परम आन्तरिक तत्त्व है।'' स्वतन्त्रता मानवता का प्राण है जिसके अपहरण का अर्थ है मानवता का विलोप होना। स्वतन्त्रता ही नैतिकता का आधार है। स्वतन्त्र भाव से काम करने पर ही उत्तरदायित्व अभिव्यक्त होता है। जड़वत कार्य करने में नैतिकता की अभिव्यंजना नहीं हो सकती। रूसो सम्प्रभु और सरकार में विभेद करता है। यदि सरकार सम्प्रभु की शक्ति का अपहरण कर ले तो सामाजिक अनुबन्ध टूट जाता है और समस्त नागरिक अपनी उस

नैसर्गिक स्वतन्त्रता को प्राप्त कर लेते हैं जिसे नागरिक समाज में आने पर उन्होंने त्याग दिया था पर चूँकि अनुबन्ध सहमति पर आश्रित है अतः अनुबन्धवाद का समर्थन वैयक्तिक स्वतन्त्रता का अनुमोदन है।

रूसो स्वतन्त्रता का अर्थ स्वच्छन्दता या मनमाना कार्य करने की आजादी से नहीं लेता। समाज द्वारा सामान्य हित की दृष्टि से बनाए गए नियमों का पालन व्यक्ति को अवश्य करना चाहिए। उसके विरूद्ध किया गया आचरण सामान्य इच्छा की अवहेलना करना होगा। जो स्वतन्त्रता नहीं उच्छृंखलता होगी।

अतः स्मरणीय है कि रूसो लॉक की भाँति स्वतन्त्रता, जीवन और सम्पत्ति को मनुष्य के प्रकृतिक नहीं अपितु राज्य-प्रदत्त नागरिक अधिकार मानता है।

3.11.3 रूसो का समानता विषयक विचार

रूसो की मान्यता है कि समानता के अभाव में स्वतन्त्रता नहीं रह सकती। यद्यपि भौतिक असमानताएँ नष्ट नहीं हो सकतीं किन्तु मनुष्य कानूनी दृष्टि से समान बनाए जा सकते हैं। रूसो यह भी नहीं चाहता कि किसी को इतनी शक्ति प्राप्त हो जाए कि वह उसका निरंकुश प्रयोग कर सके। शक्ति का प्रयोग तो कानून और पद के अनुरूप ही करना होगा। राज्य का आर्थिक स्वास्थ्य तभी बना रह सकता है जब न कोई नागरिक इतना धन सम्पन्न हो कि वह दूसरे को खरीद ले और न गरीब एवं साधनही हो कि वह स्वयं को ही बिक जाने दे। रूसो के इन विचारों से धन की भयावह विषमताओं के प्रति उसकी घृणा स्पष्ट रूप से प्रकट होती है।

3.11.4 रूसो का धर्म सम्बन्धी विचार

रूसो के धर्म सम्बन्धी विचार क्रान्तिकारी हैं। वह हॉब्स की तरह धर्म को राज्याधीन मानता है। उसने धर्म के तीन प्रकार बताए हैं-(1) वैयक्तिक धर्म, (2) नागरिक धर्म एवं (3) पुरोहित धर्म।

वैयक्तिक धर्म मनुष्य की अपने संस्थाओं और अपने आन्तरिक विश्वासों पर आधारित है। यह धर्म सर्वश्रेष्ठ है किन्तु सांसारिक दृष्टि से अव्यावहारिक है। वैयक्तिक धर्म ईश्वरीय नियमों पर आधारित आडम्बरहीन सहज धर्म है।

नागरिक धर्म राष्ट्रीय तथा वाह्य और संस्कारों, रूढ़ियों तथा विधियों से निश्चित है। नागरिक धर्म रूसो की एक निराली कल्पना है जो सम्भवतः उसके मस्तिष्क में प्लेटो के 'लॉज' एवं अन्य यूनानी विचारकों के चिन्तन से उत्पन्न हुई है। रूसो ने समाज को दृढ करने के लिए नागरिक धर्म की कल्पना की है। रूसो ने इस धर्म के बीच विधेयात्मक सूत्र बताए हैं-(1) ईश्वर की सत्ता में विश्वास करना और यह मानना कि वह परमज्ञानी, दूरदर्शी और दयालु है, (2) पुनर्जन्मवाद में विश्वास (3) पुन्यात्मा सुख पायेंगे, (4) पापात्मा दण्ड भोगेंगे तथा (5) सामाजिक अनुबन्ध और विधियों की पवित्रता की रक्षा करना महत् कर्त्तव्य है। रूसो ने नागरिक धर्म का केवल एक निषोधात्मक सूत्र बतलया है और वह है असहिष्णुता। इसका अभिप्राय है कि असहिष्णु व्यक्तियों के लिए राज्य में स्थान नहीं होना चाहिए। यह आश्चर्य की बात है कि रूसो नागरिक धर्म पर पूर्व सम्मति देकर फिर उसके प्रतिकूल आचरण करने वालों का वध करने का समर्थन करता है। आलोचकों का तर्क है कि रूसो का यह विचार निरंकुशता को प्रोत्साहन देने वाला है जो उसकी उदारता को समाप्त कर देता है।

पुरोहित धर्म वह धर्म है जो पुरोहितों-पादरियों द्वारा दिया जाता है। यह धर्म सबसे निष्कृष्ट है क्योंकि यह दो तरह के प्रधानों अथवा सत्ताओं को जन्म देता है और जनसाधारण को परस्पर विरोधी कर्त्तव्यों में फँसा देता है। फलस्वरूप संघर्ष और कहल का वातारण उत्पन्न होता है और राज्य की प्रगति में बाधा पहुँचती है।

रूसो के अनुसार राज्य को नागरिक विश्वासों के धर्म पर जो सामाजिकता और सज्जनता पर बना है चलना चाहिए।

3.11.5 रूसो का शिक्षा सम्बन्धी विचार-रूसो के शिक्षा सम्बन्धी विचार उसके श्म्उपसमश् नामक ग्रन्थ में है जिसमें शिक्षा का उद्देश्य 'मनुष्य की निर्वासित प्रकृति की पुनर्स्थापना बतलाया गया है। इस ग्रन्थ के कारण उसे प्रगतिवादी शिक्षा का जनक माना जाता है। रूसो ने ऐसी शिक्षा का समर्थन किया है जो मनुष्य की आन्तरिक प्रकृति को संवार कर उसे वैभवशाली बनाए। रूसो ने शिक्षा-योजना और शिक्षण विधि जो विचार दिए हैं, वे आज भी शिक्षा के क्षेत्र में पथ-प्रदर्शन कर रहे हैं। रूसो अपने समय की शिक्षा व्यवस्था का विरोधी था। उसने लिखा था कि तत्कालीन शिक्षा ऐसे व्यक्तियों का निर्माण करती है जिनके पास न प्रकृतिक स्वाधीनता है, न पूर्ण नागरिक आश्रय। बाल-शिक्षा को पादरियों के हाथ से निकाल लेने तथा किशोरावस्था तक धर्म-शिक्षा का निषेध करने की उसकी प्रस्थापनाओं के कारण पादरी वर्ग उससे रूष्ट हो गया। उसने उसके ग्रन्थ 'एमिल' को अग्नि के भेंट चढ़ा दिया और फ्राँस की संसद तथा जेनेवा की सरकार ने भी उसकी निन्दा की।

3.12 रूसो की हाब्स तथा लॉक के साथ तुलना

इनमें सबसे पहले बड़ा अन्तर जो हम देखते हैं वह यह कि सोशल कॉन्टैक्ट में हमें इस बात का कोई विस्तृत विवरण नहीं मिलता है कि प्रकृतिक अवस्था कैसी थी और कौन से उद्देश्यों से मनुष्य राज्य की स्थापना करने के लिये उत्प्रेरित हुये। इसके विपरीत, हॉब्स तथा लॉक ने इस विषय पर विस्तारपूर्वक लिखा है। इसी के साथ-साथ रूसो के लेखों में प्रकृतिक कानून तथवा प्रकृतिक अधिकारों का जिनका कि हॉब्स तथा लॉक की विचार प्रणालियों में इतना महत्वपूर्ण स्थान है, पूर्ण अभाव है। इन दोनों बातों का अभाव महत्वपूर्ण है, यह इस बात का सूचक है कि रूसो के मस्तिष्क में संविदा सिद्धान्त का स्थान केवल गौण है।

दूसरा अन्तर यह है कि जहाँ तक कि संविदा की शर्तों का सम्बन्ध है, रूसो, हॉब्स के सदृश परन्तु लॉक के विपरीत, व्यक्ति द्वारा अपनी समस्त शक्तियों के समर्पण की कल्पना करता है। परन्तु रूसो तथा हॉब्स में एक स्पष्ट अन्तर है। हॉब्स के मतानुसार व्यक्ति अपनी शक्तियों का समर्पण एक व्यक्ति विशेष अथवा व्यक्ति समूह को करता है जो कि संविदा में कोई पक्षकार नहीं है, बल्कि उससे बाहर है, किन्तु रूसो के अनुसार व्यक्ति अपने आपको सम्पूर्ण समाज को समर्पित करता है। इन दोनों धारणाओं में आकाश-पाताल का अन्तर है जबकि लॉक के अनुसार यह समर्पण केवल आंशिक होता है, केवल प्रकृतिक कानून की व्याख्या करने तथा उसे लागू करने का अधिकार ही समाज को समर्पित किया जाता है, अन्य समस्त प्रकृतिक अधिकार व्यक्ति के पास अक्षुण्ण रहते हैं। इसका अर्थ यह है कि हॉब्स तथा रूसो, दोनों के अनुसार (निःसन्देह दोनों में आधारभूत अन्तर तो है ही) राज्य निरंकुश अर्थात् एक नश्वर-देव बन जाता है, किन्तु लॉक के अनुसार राज्य का अधिकार सीमित रहता है। तीनों विचारकों के इस अन्तर को निम्नलिखित शब्दों में अभिव्यक्त किया जा सकता है।

तीसरा अन्तर हम यह देखते हैं कि हॉब्स के अनुसार संविदा के फलस्वरूप जिस इच्छा का उदय होता है, वह वास्तविक होती है क्योंकि वह एक व्यक्ति की इच्छा होती है, परन्तु इसी कारण वह सामान्य नहीं हो सकती, लॉक में उस इच्छा को सामान्य तो कहा जा सकता है, क्योंकि वह बहुमत की इच्छा है, परन्तु वह वास्तविक नहीं होती क्योंकि वह एकात्मक नहीं होती, रूसो में वह वास्तविक तथा सामान्य दोनों है। वह वास्तविक इसलिये है क्योंकि वह समाज जिसकी इच्छा वह होती है, एक नैतिक तथा सामूहिक व्यक्ति होता है और इसलिये एकात्मक है, वह सामान्य है, क्योंकि वह समस्त नागरिकों की एक सामूहिक इच्छा है।

चौथा अन्तर इस प्रकार है कि रूसो का नश्वर-देव एक सम्पूर्ण समाज है, जबकि हॉब्स का केवल एक व्यक्ति। दोनों में इस महत्वपूर्ण अन्तर के अतिरिक्त इतना ही महत्वपूर्ण एक अन्तर और भी है, वह यह है कि हॉब्स के नश्वर-देव का व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका दोनों शक्तियों के ऊपर अधिकार है और इसलिये यह निरंकुश है और प्रजाजन दास, किन्तु रूसो का सम्प्रभुता सम्पन्न समाज केवल व्यवस्थापिका शक्तियों का प्रयोग करता है। कार्यपालिका शक्तियों को वह सरकार को सौंप देता है जो कि उसका अभिकर्ता अथवा नौकर है। इस प्रकार से रूसो व्यक्ति की स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण रखना चाहता है। दूसरे शब्दों में, रूसो में सम्प्रभुता सम्पन्न राज्य तथा सरकार में भेद है, जबकि हॉब्स में दोनों एकरूप है।

लॉक के मतानुसार सरकार को न्यास कहकर पुकारा गया है, उनकी शक्तियाँ धरोहर के रूप में है, संविदात्मक नहीं। यहाँ तक तो लॉक तथा रूसो में कुछ साम्य है। परन्तु जबकि रूसो सम्प्रभुता सम्पन्न जनता को अपनी व्यवस्थापिका शक्तियों को किसी प्रतिनिधि निकाय के पक्ष में हस्तान्तरित करने का निषेध करता है, लॉक के विचार में व्यवस्थापिका शक्तियों का प्रयोग साधारणतया जनता के प्रतिनिधियों द्वारा ही होना चाहिए। सारांश यह है कि जब कि रूसो संसदात्मक संस्थाओं का बहिष्कार करता है और प्रत्यक्ष जनतन्त्र का समर्थन करता है जिसमें न प्रतिनिधि हो न दल, लॉक संसदात्मक संस्थाओं का पक्का समर्थक था।

यहाँ स्पष्ट हो जाता है कि संविदा सिद्धान्त की कुछ विशेषतायें रूसो, हॉब्स से और कुछ लॉक से ग्रहण करता है और उनका सम्मिश्रण करके एक नवीन सम्पूर्ण सिद्धान्त तैयार करता है। उसकी सम्प्रभुता की परिभाषा में हॉब्स जैसी पूर्णता तथा सुनिश्चितता है किन्तु उसे वह जनता में रखता है जिससे निस्सन्देह लॉक प्रसन्न हुआ होगा।

अभ्याय प्रश्न-

1. रूसो का जन्म किस देश में हुआ था।

   a. स्विट्जरलैंड b. फ्रांस c. इटलीd. जर्मनी

2. ''विज्ञान तथा कला की प्रगति ने नैतिकता को भ्रष्ट करने में सहयोग दिया है'-यह किसका कथन है-

   a. बोदाँ b. हाब्सc. लॉक d. रूसो

3. निम्न में से कौन सा/से ग्रन्थ रूसो द्वारा लिखित है।

   a. सोशल कान्टैक्ट ;b. इमाइल

   c. लॉ नॉवेल हेलॉयज d. उपरोक्त सभी

4. निम्न में कौन सा/से ग्रन्थ रूसो के हैं-

   a. कन्फैशन्स b. रिवरीज c. डाइलौग्स d. उपरोक्त सभी

5. 'सामान्य इच्छा' को सामाजिक संविदा का मूलतत्व कौन मानता है।

   a. लॉक b. हॉब्स c. रूसो d. बोदाँ

3.13 सारांश

रूसो के मूल्याँकन के विषय में आलोचकों में घोर मतभेद है। जहाँ वेपर, कोल, लैंसन आदि ने रूसो की खुलकर प्रशंसा की है वहाँ वाल्टेयर, बर्क, मार्ले आदि ने रूसो की कटु आलोचना की। एक ओर रूसो को महान दार्शनिक पुकारा गया है और दूसरी ओर उसे मिथ्यावादी तथा सभ्यताहीन कहा गया है। जी0डी0एच0 कोल ने रूसो को राजदर्शन का पिता कहा है और उसके 'सोशियल कॉन्टेक्ट' को राजदर्शन के ऊपर महानतम ग्रन्थ बताया तो कॉन्सटेन्ट ने रूसो को प्रत्येक प्रकार के अधिनायकवाद का सबसे भयानक मित्र कहा है। इसी तरह अन्य कतिपय विद्वानों ने रूसो को व्यक्ति के लिए अधिकतम स्वतन्त्रता चाहने वाला व्यक्तिवादी माना है तो कुछ ने उसे सर्वाधिकारवाद का पोषक बतलाया है।

इन परस्पर विचारों के लिए रूसो स्वयं उत्तरदायी है। उसने विरोधाभास संयुक्त वाक्यों का प्रयोग इतनी अधिकता से किया है कि वे पाठक के मस्तिष्क में भ्रम उत्पन्न कर देते हैं। साथ ही उसने अपने द्वारा प्रयुक्त शब्दों को कोई सुनिश्चित परिभाषा भी नहीं दी है उल्टे किन्हीं-किन्हीं शब्दों को उसने अनेक स्थानों पर विभिन्न अर्थों के लए प्रस्तुत किया है।

किन्तु इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि विरोधाभासी विचारों केा प्रकट करते हुए भी रूसो ने राजदर्शन के इतिहास पर गहरा प्रभाव डाला है। वह सामान्य इच्छा के सिद्धान्त द्वारा प्रभुसत्ता और स्वाधीनता में समन्वय स्थापित करता है और इस प्रकार प्रजातन्त्र के लिए बहुत बड़ा नैतिक आधार प्रदान करता है। उसका यही सिद्धान्त इस मूल सत्य का उद्घाटन करता है कि 'शक्ति नहीं, इच्छा राज्य का आधार है।' रूसो ने लोकप्रिय सम्प्रभुता की नींव डाली है। रूसो ने राज्य और शासन के मध्य तथा सम्प्रभु कानून एवं सरकारी कानून के बीच स्पष्ट भेद किया है। उसका सम्प्रभु कानून ही आधुनिक मौलिक अथवा साँविधानिक कानून का स्रोत है। उसके प्रभाव के परिणामस्वरूप ही आधुनिक युग में इस बात पर बल दिया जाता है कि शासन के विधेयात्मक कानून देश के मौलिक कानून के अनुकूल होने चाहिए। फ्रेंच क्रान्ति के समय रूसो के प्रभाव की तुलना उस प्रभाव से की जा सकती है जो धर्म-सुधार युग में बाइबिल का जनता पर पड़ा था अथवा 20वीं शताब्दी में रूसी जनता पर मार्क्स की पुस्तक 'दास कैपिटल' ने डाला था। डॉयल ने ठीक ही लिखा है-रूसो ने घोर दुविधा एवं असन्तोष के समय में यूरोप के सामने एक प्राचीन और जर्जर ढांचे को तोड़ डालने का औचित्य प्रदर्शित किया तथा एक ऐसे आदर्श को उसके सामने रखा जिसे वह विनाश के पश्चात प्राप्त कर सकता था।

सेबाइन के अनुसार, ''रूसो स्वयं राष्ट्रवादी नहीं था किन्तु उसने नागरिकता के प्राचीन आदर्श को एक ऐसा रूप प्रदान किया जिससे राष्ट्रीय भावनाओं के लिए उसे अपनाना सम्भव हो सका।'' रूसो के विचारों का जर्मन विज्ञानवाद पर भी गहरा असर हुआ। वह मानव की नैतिकता का समर्थक था। स्वतन्त्रता को वह जीवन का परमतत्त्व मानता था और इस कारण नीतिशास्त्र के क्षेत्र में भी उसका क्रान्तिकारी प्रभाव रहा। काँट कहता था कि सरल मानव की नैतिक वृत्तियों का महत्त्व उसे रूसो के ग्रन्थ से ही विदित हुआ। तार्किक वाग्जाल के बदले हृदय की सरलता पर जो ध्यान रूसो ने दिया वहीं मानववादी नीति-शास्त्र का आधार हो सकता है। स्वतन्त्रता की विराट उद्घोषणा रूसो ने की और नैतिकता का इसे आधार बतलाया। इस प्रस्ताव का गहरा असर जर्मनी के दार्शनिकों पर पड़ा। इसी कारण हीगल ने कहा था कि रूसो के ग्रन्थों में ही स्वतन्त्रता की बुद्धिपूर्वक अभिव्यक्ति हुई है। स्वतन्त्रता के साथ ही समानता पर रूसो ने जो बल दिया है, इस कारण कहा जा सकता है कि न केवल लोकतन्त्र का ही नहीं अपितु समाजवाद का बीज भी रूसो के ग्रन्थों में निहित है। इस प्रकार हम देखते हैं कि रूसो की विचारधारा से तीन दृष्टि बिन्दुओं व्यक्तिवाद, समूहवाद और नैतिक स्वातन्त्रयवाद को ग्रहरा प्रश्रय प्राप्त हुआ।

3.14 शब्दावली

1. सामान्य इच्छा- इस शब्द का आरम्भिक प्रयोग फ्राँसीसी विचारक डेनिस दीद्रो (1713-1784) ने अपने विश्वकोश में किया था फिर इसे जीन-जेकस रूसो (1712-1778) ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'सोशल कान्टैक्ट' में विकसित किया। रूसो मनुष्य की तात्कालिक और तात्विक इच्छा में अन्तर करते हुये कहते हैं कि तात्कालिक इच्छा स्वार्थ आधारित होती है जबकि तात्विक इच्छा सबके हित एवं परमहित से जुड़ी होती है। सामान्य इच्छा पूरे समाज की तात्विक इच्छा को व्यक्त करती है।

2. लोकप्रिय प्रभुसत्ता- यह वह सिद्धान्त है जो साधारणतः नैतिक आधार पर जनसाधारण को प्रभुसत्ता का उपयुक्त पात्र मानता है। इस विचार के आरिम्भक संकेत प्राचीन रोमन विचारक मार्कस तुलियस सिसरो के दर्शन में दिखता है। किन्तु सबसे पहले चौदहवीं शताब्दी में इतावली दार्शनिक मार्सीलियो आफ पादुआ ने लोकप्रिय प्रभुसत्ता को पोप की सत्ता को चुनौती देने में प्रयोग किया। 18वीं शताब्दी में यह सिद्धान्त जे0जे0 रूसो के राजनीतिक दर्शन का सार तत्व बना। टॉमस जैफ़र्सन ने भी लोकप्रिय प्रभुसत्ता के सिद्धान्त को आगे बढ़ाया। लोकप्रिय प्रभुसत्ता की अनिवार्य शर्ते हैं: सार्वजनिक मताधिकार, विधानमण्डल पर सर्वसाधारण के प्रतिनिधियों का नियंत्रण और राष्ट्र के वित्त पर जन-प्रतिनिधियों के सदन का नियंत्रण।

3. भोला-भाला असभ्य जीव -ऐसा मनुष्य जिसकी कल्पना रूसो प्रकृतिक अवस्था में स्वतंत्र, सन्तुष्ट, आत्मतुष्ट, स्वस्थ एवं निर्भय जीव के रूप करता है जो प्रकृति की गोद में स्वच्छन्दतापूर्वक जीवन यापन करता है।

3.15 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.a 2.d 3.d 4.d 5.c

3.16 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. राजनीति दर्शन का इतिहास- जॉर्ज एच0 सेबाइन

2. मास्टर्स ऑफ पॉलिटिकल थॉट- डब्ल्यू0टी0 जोन्स

3. राजनीतिक चिन्तन की रूपरेखा- ओ0पी0 गाबा

4. राजदर्शन का स्वाध्ययन- सी0एल0 वेपर

3.17 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. राजनीति कोश- डा0 सुभाष कश्यप एवं विश्वप्रकाश गुप्त

2. पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तक- आर0एम0 भगत

3. राजनीति विज्ञान विश्वकोश- ओ0पी0 गाबा

3.18 निबन्धात्मक प्रश्न

1.''रूसो की सामान्य इच्छा हॉब्स का शीर्षविहीन लेवियाथान है।'' स्पष्ट करते हुए विश्लेषणात्मक व्याख्या कीजिए।

2.रूसो के विचार में पाये जाने वाले अन्तर्विरोधों को उत्पन्न करने वाले कारणों पर प्रकाश डालते हुए विवेचनात्मक विश्लेषण करें।

3.आधुनिक राजनीतिक विचार को रूसो की देन का मूल्यांकन कीजिये।

4.रूसो का सामाजिक समझौता लॉक का ही सिद्धान्त है, जिसे हॉब्स की पद्धति द्वारा विकसित किया गया है। व्याख्या कीजिए।

5.रूसो ने लॉक के व्यक्तिवाद तथा हॉब्स के निरंकुशवाद में सामंजस्य बिठाने का जो प्रयास किया है, उस में वह कहाँ तक सफल रहा है। विवेचनात्मक विश्लेषण कीजिए।

इकाई-4 : चार्ली-लुई द मांटेस्क्यू (1689-1755)

इकाई की रूपरेखा

4.1 प्रस्तावना
4.2 उद्देश्य
4.3 कृतियां
4.4 पद्धति
4.5 राज्य की उत्पत्ति सम्बन्धी विचार
4.6 विधि सम्बन्धी विचार
4.7 सरकारों का वर्गीकरण सम्बन्धी विचार
4.8 स्वतंत्रता सम्बन्धी विचार
4.9 शक्ति-पृथक्करण का सिद्धान्त
4.10 शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त की आलोचना
4.10.1शक्ति-पृथक्करण के सिद्धान्त का व्यावहारिक प्रभाव एवं मूल्यांकन
4.11 अन्य सिद्धान्त
4.12 सारांश
4.13 शब्दावली
4.14 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
4.15 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
4.15 सहायक/उपयोगी पाठ्य पुस्तकें
4.17 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
4.18 निबन्धात्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना-

अठारहवीं शताब्दी में फ्राँस में जितने भी दार्शनिक हुए, उनमें रूसो को छोड़कर मॉण्टेस्क्यू सबसे महत्वपूर्ण था। मॉण्टेस्क्यू ऐसा विचारक था जिसने सामाजिक और राजनीतिक सिद्धान्त के क्षेत्र में मौलिक योगदान किया। उसे सामाजिक दर्शन की जटिलताओं का अन्य दार्शनिकों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट ज्ञान था। यद्यपि उसने समाज एवं शासन पर विस्तार से व्यावहारिक अध्ययन किया, तथापि उसकी अधिकाँश धारणाएँ ऐसी थीं जिनके लिए प्रमाण एकत्र करने का उसने प्रयत्न नहीं किया। उन्होंने समाजविज्ञान, ऐतिहासिक अनुसन्धान, तुलनात्मक राजनीति-सिद्धान्त और कानून के विकास की भूमिक तैयार की, जिसके कारण ही उसे समकालीन राजनीतिक समाजविज्ञान और सांस्कृतिक मानव विज्ञान के अग्रदूत के रूप में याद किय जाता है।

मॉण्टेस्क्यू का जन्म एक विख्यात फ्राँसीसी वकील के घर में सन् 1889 में हुआ था। 66 वर्ष की अवस्था में 10 फरवरी, 1755 ई0 को वह इस संसार से विदा हो गया। उसके जीवन में रूसो के समान विलक्षणता का अस्तित्व नहीं था, किन्तु अपनी रचनाओं, विशेषकर 'The Spirit of Laws ' के कारण वह शिक्षित समाज में सदा के लिए अमर हो गया।

4.2 उद्देश्य-

मॉण्टेस्क्यू को अपने जीवन में रूसो की भाँति अभाव के दिन नहीं देखने पड़े। उसे अपनी माता से और तत्पश्चात् अपने ताऊ से विरासत में विशाल सम्पत्ति मिली और जिस महिला से उसने विवाह किया वह भी अपनी पैतृक सम्पत्ति लाई। यही कारण था कि वह सुख एवं शान्ति की जिन्दगी बसर करते हुए, सामाजिक एवं बौद्धिक कार्यों को करते हुए निश्चिन्त रूप से अपने प्राणों का उत्सर्ग किया। उसने सन् 1728 में ऑस्ट्रिया, स्विटजरलैण्ड, इटली, हॉलैण्ड, हंगरी आदि अनेक देशों का भ्रमण करके अपने ज्ञान को समृद्ध बनाया। उसने इन देशों के राजनीतिक इतिहास का अध्ययन प्रस्तुत कर समाजशास्त्रीय और ऐतिहासिक पद्धति का मार्ग प्रशस्त किया। सन् 1729 से 1731 ई0 तक वह इंग्लैण्ड में रहा और इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि राजनीतिक शक्तियों का विभाजन ही वहाँ की राजनीतिक प्रमुखता का स्रोत है। अपने भ्रमण से लौटकर वह लाब्रीडी (अपने जन्म-स्थान) में रहने लगा। यदा-कदा वह पेरिस भी चला जाता था।

मॉण्टेस्क्यू को फ्राँस की दुर्दशा देखकर बड़ा दुख होता था। वास्तव में उसका आविर्भाव एक ऐसे समय हुआ था जब फ्रांसीसी जनता करों के बोझ से पिस रही थी। जनता के पास तन ढकने का वस्त्र और पेट भरने को पूरा भोजन न था। राजा एवं उसके सामन्तों का जीवन ऐश्वर्य और विलास से परिपूर्ण था। कृषक वर्ग सामन्तों की दमनकारी नीति से और मध्यम वर्ग करों के बोझ से पीड़ित था। मॉण्टेस्क्यू तत्कालीन राजनीतिक व्यवस्था का अन्त करके फ्राँस मे एक सुव्यवस्थित शासन-प्रणाली की स्थापना करना चाहता था। अपने भ्रमण और इंग्लैण्ड के दो वर्षीय आवास से लौटकर उसने शासन-व्यवस्था के बारे में अपने विचारों को जनता के सामने रखा। शासन-सत्ता के विकेन्द्रीकरण अथवा विभाजन का समर्थन करते हुए उसने विधियों की परिभाषा एवं उत्पत्ति, सरकार की प्रकृति एवं उसका वर्गीकरण, राजस्व, सैनिक व्यवस्था आदि विभिन्न विषयों पर विचार प्रकट किए।

4.3 मांन्टेस्क्यू की कृतियाँ

1. पर्सियन लेटर्स (Persian Letters)

2. रिफलेक्शन ऑन द कॉजेज आफ द ग्रेटनेस एण्ड डिक्लाइन आफ द रोमन्स (Reflection on the causes of the Greatness and Decline of the Romans)

3. द स्प्रिट ऑफ लॉज (The Spirit of Laws)

मॉण्टेस्क्यू के समस्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ उसके विदेश भ्रमण से लौटने के बाद ही लिखे गये, तथापि सन् 1721 ई0 में जबकि वह केवल 32 वर्ष का था, उसकी एक कृति 'Persian Letters प्रकाशित हो चुकी थी जिसमें कुछ ऐसे कल्पित पत्रों का संग्रह था जिसके द्वारा फ्राँस के सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक जीवन की स्वतन्त्र आलोचना की गई थी। चर्च, राज्य, राजा एवं देश की अन्य संस्थाओं पर व्यंग कसे गए थे और फ्रेंच समाज की मूर्खताओं तथा अन्धविश्वासों का मजाक उड़ाया गया था। यद्यपि यह पुस्तक बिना लेखक का नाम दिए ही प्रकाशित कराई गई थी, किन्तु यह बात छिपी नहीं रह सकी थी कि इसका लेखक मॉण्टेस्क्यू ही था। फ्राँस की पीड़ित सामान्य जनता मॉण्टेस्क्यू के इस चित्रण से अत्यन्त प्रभावित हुई।

सन् 1734 में मॉण्टेस्क्यू ने अपना ग्रन्थ ''Reflection on the Causes of the Greatness and Decline of the Roman प्रकाशित कराया जिसमें उसने उन प्रतिक्रियाओं का वर्णन किया जो विभिन्न देशों के इतिहासों के अध्ययन के कारण उस पर हुई थीं। यह ग्रन्थ उसके दर्शन के स्वरूप एवं पद्धति को स्पष्ट रूप से प्रकट करता है। इस ग्रन्थ में उसका यह विश्वास झलकता है कि सामान्य कारणों में से घटनाओं का उदय होता है और ऐतिहासिक घटनाएं एवं प्रक्रियाएँ संयोग से नहीं प्रत्युत् कुछ निश्चित सिद्धांतों द्वारा अनुशासित होती है। मॉण्टेस्क्यू ने रोमन इतिहास का अध्ययन, रोम के पतन के कारणों को समझकर भविष्य के लिए सबक सीखने की दृष्टि से किया था और इसलिए यह मानने में कोई असंगति प्रतीत नहीं होती कि उसके राजदर्शन के सामान्य स्वरूप को निर्धारित करने वाले प्रमुख तत्वों में रोमन इतिहास और ब्रिटिश संस्थानों का स्थान अग्रणी था।

सन् 1748 में मॉण्टेस्क्यू का अमर ग्रन्थ 'The Spirit of Laws प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थ में उसने सरकार के भेद, विधि, आर्थिक एवं सैनिक व्यवस्था, सामाजिक परम्पराओं एवं नागरिक चरित्र, धार्मिक समस्याओं आदि पर अपने विचार प्रकट किए। मॉण्टेस्क्यू का यह ग्रन्थ 18वीं शताब्दी के गद्य की सर्वश्रेष्ठ कृति मानी जाती है जो अपनी शैली और विषय-सामग्री दोनों ही दृष्टियों से अद्वितीय है। मैक्सी के अनुसार ''यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं कि राजनीतिक विज्ञान को उन पुस्तकों में जो कभी भी लिखी गई हैं 'स्प्रिट ऑफ लॉज' सबसे अधिक पठनीय ग्रन्थ है।'' डनिंग ने लिखा है कि इस पुस्तक का क्षेत्र इतना व्यापक है कि यह विशुद्ध राजनीति की बजाय समाजशास्त्र की पुस्तक बन गई है। 'स्प्रिट ऑफ लॉज' 31 अध्यायों में विभक्त है। विचारों की दृष्टि से इसे मोटे तौर पर छः भागों में विभाजित किया जा सकता है- पहले भाग में कानून और सरकार का चित्रण है, दूसरे भाग में राजस्व तथा सैनिक व्यवस्था आदि पर विचार किया है, तीसरा भाग सामाजिक परम्पराओं की व्याख्या करता है और बतलाता है कि एक देश के नागरिकों के चरित्र-निर्माण में वहाँ के भौगोलिक वातावरण का क्या प्रभाव पड़ता है, चौथे भाग में आर्थिक विषयों की, पाँचवें भाग में धर्म सम्बन्धी समस्याओं की और छठे भाग में विभिन्न देशों के कानूनों की चर्चा की गई है। संक्षेप में, यह ग्रन्थ सभी प्रकार के पाठकों को चिन्तन की कुछ न कुछ सामग्री प्रदान

करता है। इसीलिए, मॉण्टेस्क्यू का यह ग्रन्थ इतना लोकप्रिय हुआ कि दो वर्ष में ही इसके 22 संस्करण छपे और यूरोप की विभिन्न भाषाओं में उसके अनुवाद हुए।

4.4 मॉण्टेस्क्यू की पद्धति

मॉण्टेस्क्यू समाजशास्त्री और ऐतिहासिक पद्धति का समर्थक था। अनेक समालोचकों की दृष्टि में उसकी देन पद्धति के क्षेत्र में है, सैद्धान्तिक क्षेत्र में नहीं। 'The Spirit of Laws की अभूतपूर्व सफलता का एक प्रधान कारण उसकी यह पद्धति ही थी जो समकालीन लेखकों से सर्वथा भिन्न थी। उसने प्लेटो, हॉब्स और रूसो के समान बुद्धिवादियों द्वारा अपनाई गई उस पद्धति का तिरस्कार किया जिसके अनुसार वे मानव-स्वभाव के सम्बन्ध में कुछ मान्यताओं को लेकर चलें और इन पूर्व निर्धारित मान्यताओं के आधार पर उन्होंने एक आदर्श राज्य का ढाँचा खड़ा करने का प्रयत्न किया। मॉण्टेस्क्यू ने अनुभूतिमूलक दृष्टिकोण तथा निरीक्षण , पर आधारित वैज्ञानिक ऐतिहासिक पद्धति को अपनाया। वह ऐतिहासिक घटनाओं के विश्लेषण के द्वारा निष्कर्ष निकालकर इतिहास से उनको पुष्ट करता था। उसने राजनीतिक प्रश्नों का निरपेक्ष राजनीतिक सिद्धान्तों के आधार पर नहीं, बल्कि वास्तविक परिस्थितियों को ध्यान में रखकर विवेचन किया। उसने वैज्ञानिक अनुशीलन द्वारा अपने मार्गों को पुष्ट किया और तुलनात्मक पद्धति द्वारा उनके अपेक्षित महत्व का पता लगाया। मॉण्टेस्क्यू की पद्धति के स्वरूप को 'Persian Letters से उद्धृत उसके इस कथन से बहुत कुछ माना जा सकता है- ''मैंने इस बात पर प्रायः विचार किया है कि सरकार के विभिन्न रूपों में से कौन सा रूप बुद्धि के सबसे अधिक अनुकूल है और मुझे यह प्रतीत होता है कि सर्वोत्तम सरकार वह होती है जो जनता की स्वाभाविक प्रवृत्तियों के अधिकाधिक अनुकूल उसका पथ प्रदर्शन करें।'' इस कथन का अभिप्राय यही है कि यह आगमन तर्कशास्त्रीय विद्वानों द्वारा अपनाई गई पद्धति का विरोध था और सरकार की किसी ऐसी अमूर्त योजना की रचना में विश्वास नहीं करता था जो समस्त देश और काल के लिए अनुकूल हो। वह समकालीन प्रवाह के प्रतिकूल अरस्तू का अनुसरण करते हुए प्राचीन और समकालीन मानव-समाज के इतिहास के अध्ययन और अनुभव की नींव पर अपने राजनीतिक सिद्धान्तों का महल खड़ा करने को प्रयत्नशील हुआ था। डनिंग के शब्दों में ''राजनीतिक समस्याओं का समाधान की दृष्टि से उसकी पद्धति अरस्तू की है, प्लेटो, बोदाँ, हॉब्स या लॉक की नहीं अपने समकालीन सब विचारकों की भाँति वह अपने न्याय के लिए, विचार की कसौटी के लिए प्रकृति की ओर देखता है, किन्तु उसकी प्रकृति की शिक्षाएँ अथवा नियम विशुद्ध तर्क की अमूर्त कल्पनाओं पर आधारित नहीं है, अपितु वर्तमान और अतीत के जीवन के ठोस तथ्यों पर अवलम्बित है।'' अरस्तू की लुप्तप्राय पद्धति को पुनः जीवनदान करने के कारण ही उसे 18वीं शताब्दी का अरस्तू तक कहा जाता है। रोमन इतिहास और ब्रिटिश संस्थान वे मुख्य तत्व थे जिन्होंने उसके राजदर्शन के सामान्य स्वरूप को निर्धारित किया। इनके अध्ययन और अनुभव से उसने निगमनात्मक प्रणाली की ऐतिहासिक पद्धति के द्वारा अपने राजनीतिक निष्कर्ष निकाले।

मॉण्टेस्क्यू का विश्वास था मानवीय परम्पराओं एवं संस्थाओं में जलवायु, भूमि की भौगोलिक दशाओं तथा भौतिक, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक परिस्थितियों के कारण बहुत भेद पाया जाता है और इस विभिन्नता के मूल में कुछ निश्चित सार्वभौमिक सिद्धान्त एवं आचरण के सामान्य आदर्श मिलते हैं जिन्हें जाना जा सकता है। इसलिये प्रो0 जोन्स का कथन है कि, ''मॉण्टेस्क्यू जो कार्य चाहता था, उसके दो पहलू थे। प्रथम, वह यह निर्धारित करना चाहता था कि ये आधारभूत एवं मूल सामान्य सिद्धान्त क्या हैं? द्वितीय, यह ज्ञात करना चाहता था कि यथार्थ जगत् में पाई जाने वाली विविधता को लाने वाले कौन से तत्व हैं? अन्त में ,उसकी यह जानने की भी इच्छा थी कि वास्तव में इन विभिन्नताओं का उदय क्यों होता है, ताकि राजनीतिज्ञ और विधि निर्मातागण प्रत्येक प्रकार की सरकार को अधिकाधिक आदर्श के निकट लाने हेतु उन विभिन्नताओं को नियन्त्रित कर सकें।''

मॉण्टेस्क्यू का विश्वास था कि मानवीय संस्थाओं, परम्पराओं और कानूनों का उद्भव एकदम किसी दैविक स्रोत से नहीं होता बल्कि पेड़-पौधों की भाँति अनुकूल स्थितियों में इनका शनैः-शनैः विकास होता है और इसलिए राजनीतिशास्त्र का उसका सम्पूर्ण मानवीय सम्बन्धों के साथ अध्ययन किया जाना चाहिए, जिनमें धर्म, अर्थशास्त्र, इतिहास, भूगोल, मनोविज्ञान, मानवशास्त्र आदि सभी विज्ञानों का अध्ययन सम्मिलित है। सरल रूप में यह कहना चाहिए कि मॉण्टेस्क्यू ने उन सभी विज्ञानों को राजनीतिशास्त्र के अन्तर्गत समझा था जिन्हें आजकल समाजशास्त्र के अन्तर्गत माना जाता है।

वास्तव में मॉण्टेस्क्यू द्वारा प्रयुक्त ऐतिहासिक पद्धति अरस्तू, मैकियावली आदि पूर्ववर्ती विचारकों की अपेक्षा उत्कृष्ट कोटि की थी क्योंकि जहाँ उनकी दृष्टि यूरोप के सभ्य राज्यों तक ही सीमित थी वहाँ मॉण्टेस्क्यू का अध्ययन और ज्ञान बहुत अधिक व्यापक था। जोन्स के इस कथन में कोई अत्युक्ति प्रतीत नहीं होती कि '' मॉण्टेस्क्यू का विशेष महत्व राजनीतिक सिद्धान्तों में नई देन के कारण इतना नहीं है जितना राजनीतिक और सामाजिक अध्ययन के पद्धति-शास्त्र का विकास करने में है।''

4.5 मांटेस्क्यू का राज्य की उत्पत्ति सम्बन्धी विचार-

मॉण्टेस्क्यू ने राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सामाजिक अनुबन्ध के सिद्धान्त को अस्वीकार करते हुए राज्य की उत्पत्ति का कारण उपयुक्त वातावरण एवं परिस्थितियों को माना है। उसका विचार था कि प्रत्येक सामाजिक एवं राजनीतिक संस्थान के लिए व्यक्तियों की सदस्यता अनिवार्य होती है। सामाजिक एवं राजनीतिक संस्थान परस्पर एक-दूसरे से स्वाभाविक रूप से इसी प्रकार सम्बन्धित होते हैं जिस प्रकार एक व्यक्ति का अस्तित्व अन्य व्यक्तियों से उसके सम्बन्धों पर आधारित है। मॉण्टेस्क्यू के अनुसार मानव का आरम्भिक अवस्था में निवास राज्यहीन वातावरण में था। अन्य विचारकों की भाँति मॉण्टेस्क्यू भी प्रकृतिक अवस्था की संज्ञा देता है। वह यह भी मत प्रकट करता है कि मनुष्य की यह प्रकृतिक अवस्था शान्त एवं उत्तम न थी। मनुष्य इस अवस्था में सदैव भयभीत रहता था किन्तु शनैः-शनैः परिस्थितियाँ बदलीं, मनुष्य में बुद्धि एवं ज्ञान का विकास हुआ और भय की अवस्था से वह मुक्त होने लगा। उसमें ऐसी भावनाएँ जाग्रत होने लगीं कि अपने से निर्बल व्यक्तियों को दबाकर अपने नियन्त्रण में रखा जाए। दूसरे शब्दों में मनुष्यों में अपने से निर्बलों पर शासन करने की भावना का उदय हुआ। इस प्रवृत्ति का स्वाभाविक परिणाम यह निकला कि युद्ध और संघर्ष की भावनाएँ उत्तरोत्तर बढ़ती गईं क्योंकि सभी लोग एक-दूसरे को दबाकर उन पर शासन करने की दिशा में सोचने लगे। इस तरह मानव-इतिहास में एक ऐसी अवस्था आई जिसमें शासक और शासित इन दो वर्गों का आरम्भ हुआ। इस प्रकार, शासन करने की बढ़ती हुई प्रवृत्ति, विशेष परिस्थितियों और उपयुक्त वातावरण के कारण ही राज्य की उत्पत्ति हुई।

मॉण्टेस्क्यू ने मानव-स्वभाव, प्रकृतिक अवस्था और राजकीय उत्पत्ति का जो चित्रण किया है वह हॉब्स और लॉक के विचारों से सर्वथा भिन्न है। उसने प्रकृतिक अवस्था में मनुष्य को भीरू एवं मूर्ख बताया है। मॉण्टेस्क्यू सामाजिक संविदा के सिद्धांत को पूर्णतया ठुकराकर राज्य की एक सावयविक कल्पना प्रस्तुत करता है और राज्य को वातावरण की उपज तथा स्वतः विकसित होने वाली संस्था मानता है। डॉयल ने लिखा है कि मॉण्टेस्क्यू के लिए राज्य, उसके सदस्यों में संविदा अथवा समझौते का परिणाम नहीं था अपितु अपने वातावरण की उपज था और प्रकृति के कानून के अनुशासित था। इस प्रकार, मॉण्टेस्क्यू के लिए राज्य का स्वरूप सावयव था।

4.6 मॉण्टेस्क्यू का विधि सम्बन्धी विचार

मॉण्टेस्क्यू के कानून अथवा विधि की धारणा ही वास्तव में वह सूत्र है जो शिक्षा, फ्राँसीसी राजतन्त्र के इतिहास, अर्थशास्त्र, जलवायु, भूगोल, ब्रिटिश संविधान एवं बहुत से अन्य विषयों पर प्रकट किए गए असम्बद्ध विचारों को एकता के बन्धन में बाँधता है। मॉण्टेस्क्यू की विधि सम्बन्धी धारणा उसकी अन्य सभी धारणाओं में सबसे अधिक कठिन किन्तु सबसे अधिक रोचक और महत्वपूर्ण है।

मॉण्टेस्क्यू से पहले कानून के स्वरूप के सम्बन्ध में विभिन्न धारणाएँ प्रचलित थीं। कुछ विचारक इसे विवेक-बुद्धि का आदेश (Dictate of Reason) समझते थे, जैसे कि प्लेटो एवं अरस्तू, तो दूसरे विचारक इसे उच्चतर शक्ति का आदेश (command of the Supeiror) मानते थे, जैसे कि बोदाँ एवं हॉब्स। मॉण्टेस्क्यू ने इन दोनों की मतों से असहमति प्रकट करते हुए कानून का अपना अलग ही लक्षण माना। उसने कहा कि काननू अपने विस्तृत अर्थ में 'वस्तुओं की प्रकृति या स्वरूप से उत्पन्न होने वाले आवश्यक सम्बन्ध हैं।' (Law are the necessary ralations arising from the nature of things)। कानून को इतना व्यापक रूप देकर और कारण तथा कार्य के सामान्य सम्बन्ध (General relationship of cause and effect) को उसके अन्तर्गत समाविष्ट करके मॉण्टेस्क्यू ने वस्तुतः अपने ग्रन्थ 'स्प्रिट ऑफ लॉज' में कानून के एक नए दर्शन का निर्माण किया है। यही कारण है कि कतिपय समालोचकों ने कहा है कि ''ऐतिहासिक विधि-शास्त्र का अध्ययन 'स्प्रिट ऑफ लॉज' से आरम्भ होता है।''

मॉण्टेस्क्यू द्वारा कानून का उपरोक्त लक्षण बहुत व्यापक है और विश्व की समस्त जड़-चेतन वस्तुओं के सम्बन्ध में है। मॉण्टेस्क्यू यह मानता है कि प्रकृति-जगत बुद्धिहीन है क्योंकि उसमें सोचने-समझने की शक्ति नहीं है। यह युगयुगान्तर से चला आ रहा था तथा उसे अनुशासित करने वाले नियम स्थायी, अविकारी और अपरिवर्तनशील हैं।

मॉण्टेस्क्यू मनुष्य को अज्ञानी और काम, क्रोध, मोह आदि भावनाओं के भँवर में फँस जाने वाला प्राणी स्वीकार करते हुए कहता है कि वह ईश्वर द्वारा प्रदान की गई वाक् शक्ति एवं अन्य शक्तियों का दुरूपयोग करता है। वह अपनी प्रजनन शक्ति का दुरूपयोग अपनी कामुकता को सन्तुष्ट करने के लिए करता है। मनुष्यों के लिए यह स्वाभाविक है कि वह आवेगों में बहकर ईश्वर के प्रति अपने सम्बन्धों को विस्मृत कर दे अतः उसे इनका स्मरण कराने हेतु धर्म के कानून हैं।

मॉण्टेस्क्यू का कहना है कि अन्य सब नियमों के बनने से पहले मनुष्य प्रकृतिक दशा के प्रकृतिक नियमों से अनुशासित होता था। उसके विचार से प्रकृति का प्रथम नियम आत्म-रक्षा, शान्ति एवं सुरक्षा की आकाँक्षा है। प्रकृतिक दशा का मानव डरपोक था। आत्मरक्षा की भावनाओं और संकटों से बचने के लिए तथा भोजन, वस्त्र एवं आवास की आवश्यकताओं की तृप्ति के लिए मानव स्वभाव ने उसे सम्भवतः शीघ्र ही अन्य मनुष्यों के साथ संगठित होने के लिए उत्प्रेरित किया। प्रकृति का दूसरा नियम यह है कि ''जीवन-निर्वाह और सुरक्षा के लिए मनुष्य को अपने अन्य साथियों के साथ संगठित होना चाहिए।'' मॉण्टेस्क्यू के मतानुसार, मनुष्य परस्पर दूसरे व्यक्तियों के साथ मिलकर अपनी शक्ति बढ़ाने लगे और इस प्रकार समाज में युद्ध की स्थिति उत्पन्न हो गई। मानवीय आचरण केवल प्रकृति के नियमों से अनुशासित नहीं रह सका। तब इस अवस्था में प्रकृतिक नियमों की पूर्ति मानव-कृत कानूनों द्वारा करनी पड़ी। स्पष्ट है कि मॉण्टेस्क्यू के अनुसार प्रकृति-जगत में केवल एक ही प्रकार के कानून होते हैं जबकि मानव-जगत में दो प्रकार के कानून होते हैं- जैसा कि जोन्स ने लिखा है ''मानव कार्यों के क्षेत्र में प्रकृतिक

कानून के अलावा एक प्रकार का कानून और होता है, जिसे मॉण्टेस्क्यू विधेयात्मक अथवा मानव-कृत कानून कहता है।''

मॉण्टेस्क्यू इन मानवीय कानूनों की प्रकृति को बतलाते हुए प्रकृतिक कानूनों से इनके अन्तर को प्रकट करता है। उसके अनुसार-

I.मानव-कृत कानून ''विधायक द्वारा बनाए हुए विशिष्ट और सुनिश्चित संस्थान होते हैं।''

II.ये कानून सार्वभौम नहीं होते और न ही यह आवश्यक है कि वे अविकारी हों।

III.ये कानून परिवर्तनशील होते हैं, इन पर समाज के स्वरूप, जलवायु, धर्म नैतिक नियमों आदि का प्रभाव पड़ता है।

IV.समाज में होने वाले परिवर्तनों और विकास से मानव- सम्बन्धी कानून प्रभावित होते रहते हैं। देश, काल और समाज विशेष के चरित्र इनके स्वरूप में परिवर्तन लाते रहते हैं।

स्पष्ट है कि मॉण्टेस्क्यू समाज-विशेष के कानून को बाहर से थोपा गया कोई कृत्रिम कानून नहीं मानता। उनकी दृष्टि में तो यह बहुत से जटिल, विकासशील और परिवर्तनशील सम्बन्धों का समूह है जो एक समाज में विभिन्न घटकों में परस्पर सम्बन्ध पाए जाते हैं। अपने सम्पूर्ण रूप में कानून वह चीज है जो समाज को उसका विशिष्ट और अद्वितीय चरित्र प्रदान करता है।

मानवीय अथवा सामाजिक कानूनों को मॉण्टेस्क्यू ने तीन वर्गों में विभाजित किया है-

I.अन्तर्राष्ट्रीय कानून जो एक राज्य तथा दूसरे राज्य के सम्बन्ध में होते हैं। इनकी समीक्षा करने में मॉण्टेस्क्यू ने ग्रोशियस का अनुकरण किया है, तथापि दोनों में अन्तर यह है कि मॉण्टेस्क्यू ने युद्ध के कानून की अपेक्षा शान्ति-धर्म पर अधिक बल दिया है।

II.राजनीतिक कानून जो शासक तथा शासित वर्ग के बीच होते हैं, इनके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति का राज्य और सरकार से सम्बन्ध निश्चित होता है। ये कानून सरकार की शक्तियों को सीमित करके नागरिक अधिकारों की रक्षा करते हैं।

III.नागरिक कानून जो एक नागरिक का दूसरे नागरिक के साथ सम्बन्ध बताते हैं।

मॉण्टेस्क्यू के अनुसार इन तीनों प्रकार के कानूनों में अन्तर्राष्ट्रीय कानून सब देशों और समाज के लिए एक सा होता है किन्तु राजनीतिक और दीवानी कानून सब देशों में वहाँ की विशिष्ट परिस्थितियों के अनुसार विभिन्न प्रकार के होते हैं। उसका मत था कि कानून सापेक्ष होते हैं और आवश्यकतानुसार उनमें परिवर्तन भी होता है तथा होना भी चाहिए। कानूनों में भिन्नता इसलिए आती है क्योंकि देश, काल, भौगोलिक स्थिति आदि में भिन्नता है। कानून समाज में व्यवस्था उत्पन्न करते हैं। वे मानव से सम्बन्धित आवश्यक नियम हैं जिनके अनुकूल मनुष्य को चलना होता है। कानूनों का सम्बन्ध, विशेषकर राजनीतिक कानूनों का नागरिकों की चारित्रिक उच्चता से होता है। यदि कानून के पालन में व्यक्ति असमर्थता प्रकट करते हैं तो यह अवैधानिक जीवन है, जो सर्वथा अनुचित है। मॉण्टेस्क्यू ने कहा है कि सभी प्रकार के राजकीय कानूनों को ऐसा होना चाहिए, जिनसे भौगोलिक एवं सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो।

4.7 मांटेस्क्यू का सरकारों का वर्गीकरण सम्बन्धी विचार

मॉण्टेस्क्यू ने यूनानी दार्शनिकों का अनुसरण करते हुए सरकारों का वर्गीकरण किया है, किन्तु वह राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र और जनतन्त्र के परम्परागत वर्गीकरण के स्थान पर एक नवीन योजना प्रस्तुत करता है जिसके अनुसार सरकार के तीन मूल रूप हैं- गणतान्त्रिक (Repulbic) राजतन्त्रात्मक (Monarchic) एवं निरंकुशतन्त्र (Despotic)

गणतान्त्रिक सरकार के उसने पुनः दो भेद किए हैं-

लोकतन्त्र (Democracy) और कुलीनतन्त्र (Aristocracy)। गणतन्त्र वह राज्य होता है जिसमें सर्वोत्तम शक्ति समस्त नागरिकों अथवा उनके एक भाग में निहित होती है। राजतन्त्रात्मक राज्य वह है जिसमें राज्य पर एक ही व्यक्ति कुछ सुनिश्चित कानूनों द्वारा शासन करता है। यदि वह व्यक्ति स्वेच्छाचारी रूप से गैर-कानूनी आचरण करते हुए शासन करने लगता है तो वह राज्य निरंकुशवादी हो जाता है। गणतन्त्र-राज्य में जब राजनीतिक सत्ता समूची जनता में होती है तो वह लोकतन्त्र होता है किन्तु जब सत्ता कुछ व्यक्तियों के अल्पसंख्यक वर्ग में होती है तो शासन कुलीनतन्त्र कहलाता है।

मॉण्टेस्क्यू के अनुसार प्रत्येक प्रकार की शासन-पद्धति का अपना मौलिक सिद्धान्त होता है। 'सिद्धान्त' से उसका आशय है सरकार को गति प्रदान करने वाली मानव-भावना अथवा एक विशेष प्रेरक शक्ति |गणतन्त्र में वह शील या सदाचार के सिद्धान्त की प्रधानता बतलाता है। 'शील' से उसका तात्पर्य किसी आध्यात्मिक विराट नियम से नहीं है वरन् देश-प्रेम, राजनीतिक ईमानदारी और समानता की भावना से है। मॉण्टेस्क्यू के अनुसार राजतन्त्र का सिद्धान्त है 'सम्मान' अथवा गौरव की भावना। यही भावना राज्य के प्रत्येक वर्ग को गति प्रदान करती है और उन्हें परस्पर सम्बद्ध रखती है। 'सम्मान' की यह वृत्ति वर्ग के अधिकारों की रक्षा के प्रति जागरूकता में व्यक्त होती है, लेकिन प्रत्येक व्यक्ति अपने हितों के बारे में सोचते हुए भी समस्त के कल्याण के लिए कार्य करता है। निरंकुश शासन का सिद्धान्त है भय । निरंकुश नरेश की दण्ड-शक्ति सर्वत्र अपना आतंक फैलाती है। राजतंत्र और निरंकुशतन्त्र में मूल अन्तर यह है कि जहाँ राजतन्त्र कानून-सम्मत शासन होता है वहाँ निरंकुशतन्त्र कानून-विहीन शासन हो जाता है। स्पष्ट है कि मॉण्टेस्क्यू द्वारा व्यक्त ये सिद्धान्त उन मनोवैज्ञानिक भावनाओं और वासनाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं जिनसे सरकार को क्रिया-शक्ति प्राप्त होती है। इन मानव वासनाओं से ही सरकार परिचालित है। सरकार के 'सिद्धान्तों' की विवेचना में 'शील' पर बल प्रदान करना मॉण्टेस्क्यू की यूनानी-रोमन विचारधारा की निष्ठा को पुष्ट करता है। यूनानी और प्राचीन रोमन गणतन्त्र में राजनीतिक अनुरक्ति और समष्टि शक्ति को महत्वपूर्ण माना गया था।

जिस प्रकार सरकार के 'सिद्धान्त' की विवेचना मॉण्टेस्क्यू ने की है उसी प्रकार सरकार के 'स्वरूप' की भी की है। सिद्धान्त से उसका तात्पर्य मनोवैज्ञानिक वासनाओं से है, स्वरूप से वह सरकार की बनावट का अभिप्राय ग्रहण करता है। मॉण्टेस्क्यू ने किसी भी शासन को आदर्श नहीं माना है। उसने आदर्श रूप में सर्वोत्तम राज्य की धारणा को असम्भव और प्रभावपूर्ण कहकर ठुकरा दिया है। किसी भी प्रकार की विधियाँ सार्वभौमिक आधार पर अच्छी नहीं मानी जा सकतीं। इसका निश्चय तो ऐतिहासिक एवं सापेक्षिक आधार पर किया जा सकता है। मॉण्टेस्क्यू

सापेक्षतावाद का उपासक है और यह विश्वास करता है कि विशेष परिस्थितियों में तथा विशिष्ट सिद्धान्तों का अनुसरण करने वाली प्रणाली ही सर्वोत्तम होती है और इनके बदल जाने पर वह निष्प्रभावी हो जाती है। शासन का रूप भौतिक परिवेश पर निर्भर करता है जो देश-देश में भिन्न-भिन्न होता है। कानूनों में भी इसीलिए विविधता होती है। जो कानून एवं राजनीतिक संस्थान ठण्डे प्रदेशों के निवासियों के अनुकूल हो सकते हैं, उनका गर्म प्रदेशों के निवासियों के लिए उपयुक्त होना अधिकाँशतः सम्भव नहीं है।

मॉण्टेस्क्यू ने गणतन्त्र, राजतन्त्र एवं निरंकुशतन्त्र को क्रमशः 'प्रकाश, गोधूलि एवं अन्धकार' बतलाया है। गणतन्त्र 'प्रकाश' इसलिए है कि इसमें व्यक्ति के मानसिक विकास पर बल दिया जाता है। गणतन्त्रीय शासन व्यावहारिक नहीं है क्योंकि आधुनिक विशाल राज्यों में उसका प्रयोग नहीं हो सकता। यह केवल यूनान के नगर-राज्यों या कम क्षेत्र वाले राज्यों में ही सम्भव था। मॉण्टेस्क्यू का राजतन्त्र आधुनिक बड़े राज्यों में भलीभाँति हो सकता है। इसके अतिरिक्त वह फ्रांसीसी राजतन्त्र से प्रेम करता था। राजतन्त्र के समर्थन का एक बड़ा कारण यह भी था कि मॉण्टेस्क्यू यथार्थवादी था और वह जानता था कि राजतन्त्र की जड़ों को उखाड़ फैंकना सरल कार्य नहीं है। निरंकुशतन्त्र का मॉण्टेस्क्यू कट्टर विरोधी था क्योंकि इस शासन में धन, वाणिज्य, उद्योग सभी कुछ खतरे में पड़े रहते हैं और प्रजा की स्थिति दास जैसी होती है।

4.8 मॉण्टेस्क्यू का स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार

मॉण्टेस्क्यू पर इंग्लैण्ड के संविधान का व्यापक प्रभाव पड़ा था। अधिकारी-वर्ग की सत्तारूढ़ता के बदले ब्रिटेन में स्वतन्त्रता पर अधिक बल दिया जाता था। सत्ता का मद, पतन का निश्चित मार्ग है, इसका मॉण्टेस्क्यू को विश्वास हो गया था। यही कारण था कि Spirit of Laws' में स्वतंत्रता की धारणा को अधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया। अंग्रेजों के स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारों की अनुभूति वह फ्रांस में देखना चाहता था। उसने ब्रिटिश शासन-प्रणाली का विश्लेषणात्मक अध्ययन करके स्वतन्त्रता की व्यापक अर्थ में परिभाषा करते हुए कहा था कि ''यह व्यक्ति का ऐसा विश्वास था कि वह अपनी इच्छानुसार कार्य कर रहा है।'' जब व्यक्ति अपनी इच्छा के विरूद्ध कार्य करता है तो वह स्वतन्त्र नहीं रह जाता।

मॉण्टेस्क्यू ने स्वतन्त्रता के दो स्वरूप बतलाए हैं-

1. राजनीतिक स्वतन्त्रता (Political Liberty), एवं

2. नागरिक या व्यक्तिगत स्वतन्त्रता (Civil Liberty)।

राजनीतिक स्वतन्त्रता राजकीय कानून द्वारा अनुमोदित कोई भी कार्य करने की स्वाधीनता है। मॉण्टेस्क्यू के ही शब्दों में, ''राज्य में, अर्थात् कानून द्वारा निर्देशित समाज में स्वतन्त्रता का अर्थ है कि एक व्यक्ति को उन कामों के करने की स्वाधीनता हो जो करने योग्य है और जो काम नहीं करने चाहिए, उनको करने के लिए उसे विवश न किया जाए।'' व्यक्ति को क्या इच्छा करनी चाहिए इसके सर्वश्रेष्ठ सूचक राजकीय कानून हैं, और इसीलिए ''स्वतन्त्रता वह कार्य करने का अधिकार है जिसकी कानून इजाजत देते है और यदि नागरिक ऐसे कार्य कर सकता है जिसका कानून विरोध करते हैं तो उसके पास स्वतन्त्रता नहीं रह पाएगी, क्योंकि अन्य सब नागरिकों को भी वैसी ही शक्ति प्राप्त होगी।'' स्पष्टतः मॉण्टेस्क्यू के सिद्धान्त का केन्द्र-बिन्दु यह है कि स्वतन्त्रता कानूनों के प्रति अधीनता में है मनुष्य के प्रति अधीनता में नहीं।

मॉण्टेस्क्यू के इस विचार से कि जब मनुष्य को अपनी इच्छा के विरूद्ध कार्य करना पड़ता है तो वह स्वतन्त्र नहीं रहता, एक कठिन समस्या तब खड़ी हो जाती है जब राज्य के कानून और व्यक्ति के नैतिक विश्वास में संघर्ष उठ जाता है। मॉण्टेस्क्यू इस कठिनाई से परिचित था। अतः उसने स्पष्ट कर दिया कि स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि राजकीय कानून, जो हमारे आचरण को विनियमित करते हों, 'सद्' के मौलिक सिद्धान्तों पर आश्रित रहने वाले और जनता के नैतिक विश्वासों से सामंजस्य किए जा सकने वाले हों, प्रत्युत आवश्यक यह है कि नागरिक कानूनों से परिचित हों और कानून का उल्लंघन करने पर दण्डनीय हों।

मॉण्टेस्क्यू द्वारा प्रतिपादित राजनीतिक स्वतन्त्रता के विश्लेषण से उसकी निम्नलिखित विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं ः-

1.राजनीतिक स्वतन्त्रता में शासक एवं शासितों के सम्बन्धों का स्थायित्व अभिनिहित है।

2.राजनीतिक स्वतन्त्रता की सुरक्षा विधि-सम्मत-शासन में निहित है।

3.इस स्वतन्त्रता में विधि का उल्लंघन नहीं किया जा सकता।

4.राजनीतिक स्वतन्त्रता विधि द्वारा अनुमोदित व्यवहार का ही नाम है।

मॉण्टेस्क्यू ने नागरिक स्वतन्त्रता पर भी अपने विचार व्यक्त किये हैं। डनिंग के अनुसार, ''मॉण्टेस्क्यू ने नागरिक स्वतन्त्रता की परिभाषा स्पष्ट रूप से नहीं की है, किन्तु उसके विचारों से यह स्पष्ट है कि शासनतन्त्र ऐसा होना चाहिए जिसमें व्यक्तिगत तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता व्यक्तियों को पूर्णरूपेण प्राप्त हो सके। पूर्ण स्वतन्त्रता व्यक्तियों को तभी मिल सकती है जब शासनतन्त्र असीमित शक्ति-सम्पन्न या निरंकुश न हो।'' मॉण्टेस्क्यू के मत में नागरिक स्वतन्त्रता एक व्यक्ति के दूसरे व्यक्ति के साथ सम्बन्ध का परिणाम है। दासता के साथ इसका वही सम्बन्ध है जो निरंकुशवाद का राजनीतिक स्वतन्त्रता के साथ। एक व्यक्ति जब दूसरे व्यक्ति को दास बना लेता है तो उसकी नागरिक स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है। नागरिक स्वतन्त्रता के सिद्धान्त द्वारा मॉण्टेस्क्यू ने दास-प्रथा पर कठोर प्रहार किया है और इसे नितान्त अमानवीय, अप्रकृतिक एवं ईसाई धर्म विरोधी माना है।

4.9मॉण्टेस्क्यू का शक्ति-पृथक्करण का सिद्धान्त

सेबाइन ने लिखा है, ''मॉण्टेस्क्यू के समसामयिक विचारों के महत्व का कारण यह था कि उसने ब्रिटिश संस्थाओं को राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने का एक साधन बतलाया और इस रूप में इसका प्रचार किया। मॉण्टेस्क्यू कुछ समय इंग्लैण्ड में रहा था। वहाँ रहने से उसकी यह पूर्वधारणा दूर हो गई थी कि राजनीतिक स्वतन्त्रता एक उच्चतर सद्गुण के ऊपर आधारित है। यह सद्गुण केवल रोमनों को ही ज्ञात था और इसे केवल नगर-राज्य में ही सिद्ध किया गया था। उसने निरंकुशता के प्रति उसकी अरूचि को सार रूप प्रदान किया और एक ऐसे उपाय का निर्देश किया कि जिसके द्वारा फ्राँस के निरंकुशतावाद के दुष्परिणामों को दूर किया जा सकता है।

शक्ति-पृथक्करण के सिद्धान्त की प्रथम सुन्दर और वैज्ञानिक व्याख्या मॉण्टेस्क्यू द्वारा यह की गई- कि सत्ता का मद पतन का निश्चित मार्ग है अतः इसके लिए रोक और समतोलन या सन्तुलन आवश्यक है। स्वतन्त्रता तभी बनी रह सकती है जब कार्यपालिका, न्यायपालिका और व्यवस्थापिका अपना कार्य अलग-अलग सम्पादन करें तथा एक दूसरे के क्षेत्र पर हावी न हों। शक्ति का एक अंग यदि दूसरे अंग के कार्य में हस्तक्षेप न करे तो शक्ति का समतोलन रह सकता है। मॉण्टेस्क्यू ने यह मत प्रकट किया कि जहाँ विधि-निर्माण और कार्यकारी शक्तियाँ एक ही व्यक्ति में केन्द्रित होंगी वहाँ किसी भी प्रकार की स्वतन्त्रता नहीं रह सकती क्योंकि एक ही व्यक्ति कानून-निर्माता भी होगा

और कानून को क्रियान्वित करने वाला भी। इसी प्रकार यदि विधायी और न्यायिक शक्तियों का संचय भी एक ही व्यक्ति के हाथों में कर दिया जाएगा तो प्रजा अपने जीवन और स्वतन्त्रता को सुरक्षित नहीं रख सकेगी क्योंकि विधियों का निर्माण करने वाला ही विधियों की व्याख्या करके न्याय का निर्णायक बन जाएगा। इसी तरह यदि कार्यपालिका और न्यायपालिका सम्बन्धी शक्तियों का भी एक ही शक्ति स्वामी रहेगा तो स्वतन्त्रता की रक्षा असम्भव है, क्योंकि एक ही संस्था अभियोक्ता भी होगी और न्यायाधीश भी। पुनश्च, यदि विधायी, कार्यकारी और न्यायिक सभी कार्यों का समर्पण एक व्यक्ति के हाथों में होगा तो विनाश अवश्यम्भावी है। संक्षेप में, मॉण्टेस्क्यू का सूत्र यह था कि कानून-निर्माण, प्रबन्धकारी तथा न्याय विभागीय कृत्यों का एकमात्र व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के समूह में केन्द्रीकरण का अधिकार दुरूपयोग करने वाला होता है और सरकार का इस प्रकार का संगठन आतंकपूर्ण है। इस प्रकार मॉण्टेस्क्यू के अनुसार यह परम आवश्यक है कि सरकार के विभिन्न अंग पृथक-पृथक् रहें और कोई किसी के क्षेत्र में हस्तक्षेप न करे।

मॉण्टेस्क्यू पूर्ण पृथक्करण का पक्षपाती था अथवा आंशिक पृथक्करण का, इस सम्बन्ध में यही कहना उचित होगा कि वह 'शक्ति, शक्ति का विरोध करती है' में विश्वास करता था। वह चाहता था कि सरकार के तीनों अंगों की शक्तियाँ इस प्रकार रखी जाएं कि एक शक्ति दूसरी शक्ति के मुकाबले सन्तुलन और प्रतिरोध उत्पन्न करती रहे। फाइनर ने मॉण्टेस्क्यू की धारणा पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि ''मॉण्टेस्क्यू की इच्छा थी कि क्राउन की शक्तियाँ सीमित रहें और संविधान ऐसा साधन बने जिसके माध्यम से शक्ति का स्रोत बहे। पर ये स्रोत अपनी सीमाएं पार न कर पाएं, अन्यथा लोगों में त्राहि-त्राहि मच सकती है। परन्तु अपनी इन मान्यताओं के बावजूद भी मॉण्टेस्क्यू पूर्ण लोकतन्त्र की मान्यताओं से दूर न रहने का प्रयास कर रहा था।''

मॉण्टेस्क्यू चाहता था कि कार्यपालिका व्यवस्थापिका को आहूत करे, उसका कार्यकाल निश्चित करे और व्यवस्थापन की व्यवस्था करे। वह इस पक्ष में भी था कि व्यवस्थापिका कार्यपालिका पर महाभियोग लगा सकती है। आगे चलकर उसने कहा कि चाहे व्यवस्थापिका कार्यपालिका-प्रधान पर दोषारोपण न कर सके, पर चूँकि समस्त कार्यपालिका-शक्ति का प्रयोग केवल कार्यपालिका का प्रधान ही बिना अपने सहयोगियों की मदद के अकेला नहीं कर सकता, अतः जिन सहयोगियों को विधिवत मन्त्री कहा जाता है उन पर व्यवस्थापिका द्वारा मुकदमा चलाया जा सकता है, चाहे विधियाँ उसको प्रथा होने के नाते बचाने वाली ही क्यों न हों।

4.10 मांटेस्क्यू के शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त की आलोचना-

मॉण्टेस्क्यू के शक्ति-विभाजन या शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त की निम्नलिखित आधारों पर आलोचना की जाती है-

1.व्यावहारिक दृष्टि से शक्तियों का पूर्ण पृथक्करण सम्भव नहीं है। सरकार के तीनों अंगों का पृथक् रहने पर भी परस्पर एक-दूसरे के सहयोग पर आश्रित हैं। पूर्ण पृथक्करण का अर्थ होता है प्रत्येक अंग को निरंकुश बना देना। शासन इस प्रकार के तीन सम्प्रभु शक्तियों के रहते हुए चल ही नहीं सकता।

2.शासन के तीनों अंगों में इतनी व्यापक घनिष्ठता पाई जाती है कि उनका पूर्ण विभाजन अव्यावहारिक है। सरकार के विभिन्न अंगों द्वारा शासन का चाहे जो भी स्वरूप हो, मिश्रित प्रकार के कार्यों का सम्पादन होता है। न्यायाधीश कानून की व्याख्या करते समय स्व-विवेक से कुछ ऐसे निर्णय लेते हैं और ऐसे नियमों का निष्पादन करते हैं जो आगे चलकर कानून बन जाते हैं। कार्यपालिकाध्यक्ष परिस्थितियों का सामना करने के लिए चाहे जो अध्यादेश

निकालते हैं वे भी व्यवहार में कानून के समान ही प्रभावी होते हैं। व्यवस्थापिका द्वारा कई प्रकार के कार्यपालिका और न्यायपालिका सम्बन्धी कार्य किए जाते हैं। संसदीय व्यवस्था में तो कार्यपालिका ही व्यवस्थापन के क्षेत्र में नेतृत्व ग्रहण किए रहती है। वस्तुतः राजनीति का कोई भी महत्वपूर्ण प्रश्न कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के स्पर्श से अछूता नहीं होता। फाइनर के अनुसार ''पृथक्करण का सिद्धान्त शासन को कभी प्रलाप की ओर तथा कभी बेहोशी की ओर धकेलता रहता है।''

3.मॉण्टेस्क्यू ने शक्ति-पृथक्करण के सिद्धान्त की व्याख्या भ्रामक आधार पर प्रस्तुत की। स्ट्राँग के शब्दों में, ''शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त के प्रादुर्भाव के सम्बन्ध में सबसे विचित्र बात यह है कि प्रारम्भ में इसे ब्रिटिश संविधान की स्थिरता के विशेष आधार के रूप में प्रस्तुत किया गया था जो बिलकुल ही असत्य है और जो उस पर बिल्कुल भी लागू नहीं होता'' क्योंकि ब्रिटेन में शक्तियों के सामंजस्य के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है।

4.शक्ति-पृथक्करण का सिद्धान्त अपने विशुद्ध अथवा पूर्ण रूप में सरकार की कार्य-क्षमता को नष्ट करने वाला है क्योंकि सरकार के अंगों के पारस्परिक सन्देहों और आन्तरिक संघर्ष के कारण प्रशासकीय योग्यता कुण्ठित होकर मर जाएगी और प्रत्येक विभाग में स्थानीय स्वार्थ का बोलबाला हो जाएगा। जे0एस0 मिल ने 'प्रतिनिधि सरकार' में इसी तथ्य की ओर संकेत किया है कि कठोरता से लागू किया गया शक्ति-पृथक्करण संघर्ष को प्रोत्साहन देगा और जनमानस पर विपरीत प्रभाव डालेगा।

5.नागरिक स्वतन्त्रता के विचार से भी अधिकारों का पूर्ण विभाजन आवश्यक नहीं है क्योंकि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता अधिकारों के विभाजन पर इतनी आश्रित नहीं रहती जितनी संविधान की आत्मा पर। इंग्लैण्ड में शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त न होते हुए भी अमेरिका से कम स्वतन्त्रता नहीं है।

6.यह सिद्धान्त असामयिक है जिन परिस्थितियों में इसका जन्म हुआ है वे आज बदल गई हैं। आज राष्ट्र शक्ति के लिए शासन में विभाजन की नहीं, एकता की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त आज के लोक-कल्याणकारी राज्य का विचार भी शक्ति-विभाजन सिद्धान्त के अनुरूप प्रतीत नहीं होता।

4.11 मॉण्टेस्क्यू के शक्ति-पृथक्करण के सिद्धान्त का व्यावहारिक प्रभाव और मूल्याँकन

मॉण्टेस्क्यू के शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त में फ्रांसीसी क्रान्ति को प्रोत्साहन प्रदान किया और क्रान्तिकारी काल की प्रायः सभी सरकारें शक्ति विभाजन के सिद्धान्त पर संगठित की गई। नेपोलियन के शासन में इस सिद्धान्त की अवज्ञा की गई, किन्तु सर्वसाधारण के हृदय में यह सिद्धान्त अपना घर किए रहा और सांविधानिक सूत्र के रूप में आज भी इसकी प्रशंसा की जाती है।

अमेरिका में मॉण्टेस्क्यू के इस सिद्धान्त का प्रभाव निर्णायक सिद्ध हुआ। डॉ0 फाइनर का कथन है कि ''हम नहीं कह सकते कि अमेरिकन संविधान के निर्माताओं ने संविधान में शक्तियों का पृथक्करण मॉण्टेस्क्यू के सिद्धान्त से प्रभावित होकर किया था, या उनका उद्देश्य यह था कि नागरिकों की सम्पत्ति एवं स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए शक्तियों के पृथक्करण का आश्रय लेना ही चाहिए। फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं है कि अमेरिकावासी एवं अमेरिकन संविधान-निर्माता मॉण्टेस्क्यू द्वारा प्रतिपादित स्वतन्त्रता के पक्षपाती थे यद्यपि साथ ही वे स्वेच्छाचारिता को भी सीमित करना चाहते थे। बाद के इतिहास ने भी अमेरिकन संविधान में शक्तियों के विभाजन के सिद्धान्त को मान लेने में हाथ बंटाया पर फिर भी इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि अमेरिकन संविधान पर मॉण्टेस्क्यू की

स्पष्ट छाप पड़ी थी। इसी कारण मेडिसन बार-बार कहा करता था कि ''हम मॉण्टेस्क्यू की निरन्तर अदृश्य छाया से प्रेरणा ग्रहण कर रहे हैं।''

इस सिद्धान्त की उपयोगिता यह बल देने में है कि शासन के तीनों अंगों के बीच अधिकार-विभाजन शासन की अच्छाई को बनाए रखने के लिए आवश्यक है, किन्तु यह विभाजन उसी सीमा तक करना चाहिए जहाँ तक इन अंगों में सहयोग के लिए पूरा अवसर मिलता रहे। राजदर्शन के इतिहास में मॉण्टेस्क्यू का यह सिद्धान्त एक महान् सिद्धान्त के रूप में अविस्मरणीय है।

4.11 अन्य सिद्धान्त

मॉण्टेस्क्यू के महत्वपूर्ण सिद्धान्तों पर विचार कर लेने के बाद प्रसंगवश उसके अन्य कतिपय महत्वपूर्ण विचारों को भी साँकेतिक रूप में जान लेना उपयोगी है।

सबसे पहले हम भौतिक परिस्थितियों के प्रभाव के बारे में मॉण्टेस्क्यू के विचारों को लेते हैं। उसका विश्वास था कि किसी देश की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक संस्थाओं पर भौतिक परिस्थितियों का बड़ा प्रभाव पड़ता है। जिस देश की जलवायु गर्म होती है उस देश के निवासियों में आलस्य-वृत्ति अधिक होती है। शीत-प्रधान देशों के निवासियों में क्रियाशीलता, स्फूर्ति और मद्यमान की प्रवृत्ति अधिक रहती है। जिस देश की जैसी जलवायु होती है वैसी ही वहाँ के मनुष्यों की आवश्यकताएँ और जीवन-पद्धतियाँ होती हैं। स्वतन्त्रता और जलवायु में घनिष्ठ सम्बन्ध है। उदाहरणार्थ गर्म जलवायु एशियायी देशों में निरंकुश शासन संस्थाओं को पुष्ट करती है जबकि यूरोप की ठण्डी जलवायु निरंकुश शासन को सहन नहीं कर सकती और इसी कारण वहाँ स्वतन्त्रता एवं आत्मनिर्भरता की भावनाएँ अधिक विकसित होती हैं। मॉण्टेस्क्यू का मत था कि ब्रिटेन का संविधान वहाँ की जलवायु और लन्दन के कुहरे का परिणाम है। मॉण्टेस्क्यू के अनुसार भूतल की रचना भी राष्ट्रीय संस्थाओं को प्रभावित करती है। पर्वतीय प्रदेश स्वतन्त्र सरकार के लिए तथा समतल मैदान निरंकुश शाससन के लिए अच्छा आधार प्रस्तुत करते हैं। गहरी नदियों और ऊँची पर्वत श्रेणियों से रहित प्रदेशों में निरंकुश शासन इसलिए पनपते हैं क्योंकि ऐसे प्रदेशों को अर्थात् मैदानों को विजय करना आसान होता है। पर्वतीय प्रदेशों को विजय करना अपेक्षाकृत कठिन होता है, इसलिए वहाँ स्वतन्त्र राजनीतिक जीवन विकास पाता है। चूँकि पर्वतीय प्रदेशों में खेती करना कठिन होता है अतः लोग पुरूषार्थी होते हैं। मॉण्टेस्क्यू के अनुसार महाद्वीपों के निवासियों की अपेक्षा द्वीपवासियों में लोकतन्त्रात्मक भावनाएं अधिक प्रबल होती हैं। महाद्वीपों में आक्रमणों का भय सदैव विद्यमान रहता है। वैधानिक शासन और प्रजातन्त्र छोटे राज्यों में उपयुक्त एवं सम्भव है जबकि विशाल राज्यों का शासन निरंकुश नरेश ही अच्छी तरह कर सकते हैं।

इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि मानव-स्वभाव एवं प्रवृत्ति के निर्माण में भौतिक परिस्थितियों का विशेष प्रभाव होता है, लेकिन इन्हें इतना महत्व नहीं दिया जा सकता जितना मॉण्टेस्क्यू ने दिया है। यदि मॉण्टेस्क्यू की जलवायु और भू-रचना सम्बन्धी धारणा को सही मान लिया जाए तो फिर क्या कारण है कि भारत और अन्य गर्म जलवायु वाले मैदानी देशों में स्वतन्त्र संस्थाएं सफलतापूर्वक कार्य कर रही हैं। अमेरिका और आस्ट्रेलिया जैसे विशाल देशों में लोकतन्त्रीय सरकारों की सफलता भी मॉण्टेस्क्यू की धारणाओं का खण्डन करती है।

मॉण्टेस्क्यू ने सामाजिक परिवेश के प्रभाव की भी चर्चा की है। सामाजिक रीतियाँ, व्यवहार, आचार, विश्वास आदि मिलकर सामाजिक परिवेश का निर्माण करते हैं और एक देश के कानूनों तथा राजनीतिक संस्थानों पर इसका बड़ा प्रभाव पड़ता है। जन-रीतियों और जन-आचरण के विपरीत जाने वाले राजकीय कानूनों का न तो सम्मान ही हो

सकता है और प्रजा उनका स्वेच्छा से पालन ही करती है। अतः विधि-निर्माताओं को चाहिए कि वे सामाजिक परिवेश को ध्यान में रखते हुए विधियों का निर्माण करें।

मॉण्टेस्क्यू ने धर्म को व्यक्तिगत विश्वास की वस्तु माना है। राज्य को धर्म के क्षेत्र में कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए; तभी व्यक्ति की स्वतन्त्रता सुरक्षित रहेगी और राज्य के स्थायित्व में भी वृद्धि हो सकेगी। किसी समाज में कौन सा धर्म प्रचलित हो, इसका निर्धारण उस समाज की विशिष्ट स्थितियों द्वारा ही होना चाहिए। मॉण्टेस्क्यू ने धर्म पर विचार करते समय अपना यह निहित विश्वास व्यक्त किया है कि सीमित सरकार वाले देश में ईसाई धर्म, निरंकुशवादी राज्य में इस्लाम धर्म, राजतन्त्र में कैथोलिक धर्म और गणतन्त्र में प्रोटेस्टेन्ट धर्म सर्वाधिक उपयुक्त है। मॉण्टेस्क्यू रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय की भिक्षु-प्रणाली तथा पादरियों द्वारा विवाह न करने सम्बन्धी नियम का भी कठोर आलोचक था।

4.13 मॉण्टेस्क्यू का मूल्याँकन

मॉण्टेस्क्यू के बारे में प्रायः कहा जाता है कि उसका राजनीतिक दर्शन अस्पष्ट और उलझा हुआ है। यद्यपि उसने व्यष्टिमूलक एवं ऐतिहासिक पद्धति का अनुसरण किया है तथा व्यावहारिक राजनीतिक प्रश्नों की समीक्षा की है तथापि राज्य की उत्पत्ति और स्वभाव के सम्बन्ध में उसकी व्याख्या सन्तोषजनक नहीं है। उसके निष्कर्ष अप्रमाणित और संदिग्ध सूचनाओं पर आधारित हैं। विचार-व्यवस्था की शैली भी बिखरी और उलझी हुई है। ये दोष सम्भवतः इसीलिए रह गए हैं क्योंकि मॉण्टेस्क्यू का प्रतिपाद्य विज्ञय बहुत व्यापक था जिसे स्पष्ट करने में वह समुचित सन्तुलन और अनुशासन नहीं निभा पाया। इस कारण मॉण्टेस्क्यू की प्रतिभा को 'Genious of hasty generalisation' कहा गया है।

मॉण्टेस्क्यू के दर्शन में मौलिक प्रतिभा की कमी भी खटकती है। अपनी स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा में उसने विवेक, परम्परा, धर्म, मानव-प्रवृत्ति आदि का इस तरह एकीकरण कर दिया है कि स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार शिथिल हो गया है। सरकारों के वर्गीकरण में भी मौलिकता का अभाव है। मॉण्टेस्क्यू यह भी नहीं बतलाता कि भ्रष्ट शासन द्वारा उत्पन्न अराजकता से बचने के क्या उपाय हैं। उसने राज्य-क्रान्तियों के किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया है और न ही निरंकुशतन्त्र को सुधारने के उपाए बतलाए हैं।

किन्तु इन सब कमियों के बावजूद मॉण्टेस्क्यू के महान् अनुदाय और प्रभाव की उपेक्षा नहीं की जा सकती। उसके ग्रन्थ ''The Spirit of Laws ने चाहे अठारहवीं और प्रारम्भिक उन्नीसवीं शताब्दी के राजदर्शन पर विशेष प्रभाव नहीं डाला, किन्तु बाद के राजनीतिक विचारकों ने उसके महत्व को समझा है। मॉण्टेस्क्यू के दर्शन को उसके समकालीन समय में सम्भवतः इसलिए नहीं समझा जा सका कि वह राजनीति शास्त्र के अध्ययन को न्यायशास्त्र, अर्थशास्त्र, भूगोल आदि सामान्य सामाजिक शास्त्रों से मिलाना चाहता था जबकि उसके समकालीन और कुछ परवर्ती विचारक राजनीति शास्त्र को अन्य शास्त्रों से सर्वथा पृथक् रखना चाहते थे। समकालीन चिन्तन से मॉण्टेस्क्यू का एक अन्तर यह था कि वह फ्रेंच राजतन्त्र को सुधारने का आकांक्षी था, वाल्टेयर तथा रूसो की भाँति उस पर आक्षेप करने वाला नहीं। जहाँ उसके समकालीन विद्वानों ने नागरिक-अधिकारों तथा राजा के विशेषाधिकारों पर बल दिया वहाँ मॉण्टेस्क्यू ने न्याय, स्वतन्त्रता, राज्य की कार्यक्षमता आदि व्यावहारिक प्रश्नों पर अधिक विचार किया।

मॉण्टेस्क्यू ने राजदर्शन के क्षेत्र में अनेक प्रकार से अमूल्य योग दिया है। उसका सबसे महान् अनुदाय 'स्वतन्त्रता का सिद्धान्त' है। स्वतन्त्रता की सुरक्षा के लिए ही उसने शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जिसका विश्व की अनेक शासन-व्यवस्थाओं पर प्रभाव पड़ा। मॉण्टेस्क्यू ने व्यक्ति की स्वतन्त्रता का रहस्य शक्ति-पृथक्करण में पाया, प्रकृतिक अधिकारों में नहीं। पर हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि स्वतन्त्रता का महान् समर्थक होते हुए भी मॉण्टेस्क्यू लोकतन्त्रवादी नहीं था। अपने स्वभाव और विचार से वह संविधानवादी था। जनता की भावना को उत्तेजना देना उसे एकदम अरूचिकर था। स्वतन्त्रता का समर्थन करते हुए भी वह सम्पूर्ण जनता को राजनीतिक और साम्पत्तिक समानता देने की उदारता प्रदर्शित न कर सका।

अभ्यास प्रश्न

1. मान्टेस्क्यू का जन्म किस देश में हुआ था?
   a.फ्रांस b.इटली c. जर्मनी d.आस्ट्रिया
2. निम्न में से कौन सी कृति/कृतियाँ मांटेस्क्यू की है-
   a.पर्सियन लेटर्स b.रिफलेक्शन ऑन द कॉलेज ऑफ द ग्रेटनेस एण्ड डिक्लाइन ऑफ द रोमन्स
   c.स्प्रिट ऑफ लाज d.उपरोक्त सभी
3. ''शक्ति-पृथक्करण'' का सिद्धान्त किसने दिया?
   a.रूसो b.मांटेस्क्यू c.लास्की d.लॉक
4. मांटेस्क्यू के सरकारों के वर्गीकरण में सरकार के कितने मूलरूप हैं?
   a.1 b.2 c.3 d.4
5. मांटेस्क्यू गणतांत्रिक सरकार के कितने भेद बताता है?
   a.1 b.2 c.3 d.4
6. अठारहवीं शताब्दी का अरस्तू किसे कहा जाता है?
   a.मांटेस्क्यू b.हाब्स c.लॉक d.रूसो

4.12 सारांश

मॉण्टेस्क्यू ने अरस्तू और मैकियावली से बढ़कर अधिक व्यवस्थित और विकसित रूप में ऐतिहासिक पद्धति का अनुसरण किया, यद्यपि साथ ही वैज्ञानिक और पर्यवेक्षणात्मक प्रणाली का सहारा लिया। उसने भौगोलिक वातावरण को राजनीति का अंग मानकर व्यक्तित्व को गौरव प्रदान किया। उसने केवल उन्हीं विचारों को अपनाया जो उसकी दृष्टि में व्यावहारिक उपयोगिता की कसौटी पर खरे उतरे। मॉण्टेस्क्यू ने कानून की महत्ता स्थापित करते हुए स्पष्ट रूप से कहा कि कानून द्वारा ही शासन सुचारू रूप से चलाया जा सकता है। उसने विधियों के आन्तरिक तत्व की विवेचना की तथा कहा कि विधि-निर्माण प्रकृतिक और सामाजिक वातावरण तथा ऐतिहासिक रीति-रिवाजों और धार्मिक मान्यताओं को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए। विधियों की सह समाजशास्त्रीय मीमांसा निश्चय ही महत्वपूर्ण है। मॉण्टेस्क्यू का महत्व इस बात में भी है कि निरंकुशता का खण्डन करके उसने प्रतिनिधिक संसदीय शासन का अनुमोदन किया तथा राजा पर सांविधानिक रोकथाम का समर्थन किया। उसके प्रभाव का मूल्याँकन करते हुए मैक्सी ने ठीक ही लिखा है कि राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में मॉण्टेस्क्यू प्लेटो, अरस्तू, मैकियावली और बोदाँ के समान विशिष्ट महत्व रखता है। वह यद्यपि 18वीं शताब्दी का फ्राँसीसी था किन्तु उसके सिद्धान्तों और अध्ययन पद्धति का सार्वभौतिक महत्व है। उपयोगितावादियों ने उसके विचारों को बहुत हद तक ग्रहण किया। बेन्थम तो उसकी अनुभूतिमूलक पद्धति से बड़ा प्रभावित था।

4.13 शब्दावली

1.विकेन्द्रीकरण -विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति से उल्टी होती है और इसमें स्थानीय उपक्रम तथा साधनशीलता पर विशेष जोर दिया जाता है। अर्थात् अधिकारों और शक्तियों का केन्द्रीय सत्ता की ओर से प्रादेशिक तथा स्थानीय शासन-संस्थाओं के बीच के विभाजन को विकेन्द्रीकरण कहते हैं।

2.अंतर्राष्ट्रीय कानून-उन सामान्य सिद्धान्तों और विशिष्ट नियमों का समुच्चय जिन्हें अंतर्राष्ट्रीय समुदाय के सदस्य राष्ट्र परस्पर सम्बन्धों के निर्वाह में मान्यता देते हैं। अंतर्राष्ट्रीय कानून का मुख्य ध्येय यह है कि राज्यों के परस्पर सम्बन्ध सुचारू रूप से संचालित किए जा सकें और उनमें पैदा होने वाले विवादों का शांतिपूर्ण समाधान हो सके।

3.गणतन्त्र- ऐसा राज्य जहाँ राज्य का प्रबंध सक्रिय नागरिकों का कर्तव्य है, सम्राटों, अभिजात वर्गों का सूचक माना जाता है। परंतु सिद्धान्त की दृष्टि की यह अभिजाततंत्र के विरूद्ध है। गणतंत्र की भावना यह माँग करती है कि कानून बनाने और बदलने का कार्य सक्रिय नागरिकों को मिल-जुल कर करना चाहिये।

4.शक्ति-पृथक्करण-आधुनिक राज्य के बहुमुखी कार्य साधारणतः तीन वर्गों में विभाजित किये जा सकते हैं। कार्यकारी, विधायी और न्यायिक और इन कार्यों के अनुरूप ही सरकार के तीन विशिष्ट अंग स्वीकार किये जाते हैं- कार्यांग, विधानांग और न्यायांग। विधानांग का कार्य विधि निर्माण करना, कार्यांग का कार्य उन्हें कार्यान्वित करना और न्यायांग का कार्य उनकी व्याख्या करना है। राज्य के विभिन्न अंगों को एक-दूसरे से अलग रखने का सिद्धांत ही शक्ति-पृथक्करण का सिद्धान्त है।

4.14 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. a 2. d 3.b 4. C 5. b 6. a

4.15 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.राजनीति दर्शन का इतिहास - जॉर्ज एच0 सेबाइन
2.राजनीतिक-चिंतन की रूपरेखा - ओ0पी0 गाबा
3.पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन - आर0एम0 भगत
4.प्रमुख राजनीतिक चिन्तक-खण्ड-2 - डा0 ब्रजकिशोर झा
5.प्रिंसिपल ऑफ सोशल एण्ड पॉलिटिक्स थ्योरी - बार्कर
6.ए हिस्ट्री ऑफ पालिटिकल थ्योरीज़ फ्राम लूथर टू मान्टेस्क्यू - डनिंग

4.16 सहायक/उपयोगी पाठ्य पुस्तकें

1 राजनीति कोश - डा0 सुभाष कश्यप एवं विश्व प्रकाश गुप्त
2.राजनीति विज्ञान विश्वकोश - ओ0पी0 गाबा
3.राजनीतिक विचार विश्वकोश - ओ0पी0 गाबा

4.17 निबन्धात्मक प्रश्न

1.मान्टेस्क्यू के स्वतन्त्रता की धारणा का विस्तार और विश्लेषण कीजिए।
2.मान्टेस्क्यू के राजनीतिक दर्शन के मुख्य सिद्धान्तों की चर्चा कीजिए।
3.'सभी साम्राज्यों में प्रथम साम्राज्य जलवायु का है''- समीक्षा करें।
4.''स्प्रिट ऑफ लॉज'' में प्रतिपादित मान्टेस्क्यू के मूल विचारों की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिये।

इकाई 5 जेरेमी बेन्थम (1748-1832)

5.1 प्रस्तावना

5.2 उद्देश्य

18.3 जीवन परिचय

5.4 प्रमुख कृतियाँ

5.5 उपयोगिता की आधारशिला

5.6 फेलिसिक कैल्कुलस

5.7 राज्य संबंधी विचार

5.8 अधिकार एवं कानून संबंधी विचार

5.9 स्त्री एवं लैंगिक समानता

5.10 सारांश

5.11 शब्दावली

5.12 अभ्यास प्रश्न

5.13 संदर्भ ग्रंथ सूची

5.14 सहायक/उपयोगी सामग्री

5.15 निबंधात्मक प्रश्न

5.1 प्रस्तावनाः

जेरेमी बेन्थम उपयोगितावाद के संस्थापक थे। सारा जीवन उन्होंने दार्शनिक ज्यूरिस्ट और सामाजिक सुधारक की सक्रिय कार्यकर्ता की भूमिका के साथ निभाई। जेरेमी बेन्थम मूलवादी सुधार समूह के प्रमुख राजनैतिक दार्शनिक थे। उन्होंने समस्याओं पर एक वैज्ञानिक की तरह विचार किया। उन्हे पूरा विश्वास था कि यदि सही नाप-जोख की जाए तो लोगों के दुःख कम किए जा सकते हैं और खुशी बहाल की जा सकती है। वास्तविकता के पुट से ओतप्रोत उपयोगिता बाद के दर्शन की आधारशिला बेन्थम शायद इसी सोच के अनुरूप ही रखते है।

5.2 उद्देश्य

1. उपयोगितावाद के मूल सिद्धांतों को जान सकेंगे।
2. उपयोगितावाद में बेन्थम की मात्रात्मक उपागम को समझ सकेंगे।
3. बेन्थम के आजादी, अधिकार एवं कानून संबंधी विचार को समझ सकेंगे।
4. बेन्थम की स्त्री एवं लैंगिक समानता पर दृष्टिकोण को समझ सकेंगे।

5.3 जीवन परिचय

बेन्थम का जन्म 15 फरवरी, 1748 को लंदन के एक प्रतिष्ठित वकील परिवार में हुआ था। परिवार द्वारा उसे नियमित एवं उच्च शिक्षा प्रदान की गई। पंद्रह वर्ष की अल्पायु में ही सन् 1763 में उसने स्नातक की उपाधि प्राप्त कर ली और तत्पश्चात् 'लिकन्स इन'(Lin Inn) में कानून का अध्ययन करने के लिए प्रवेश लिया। वकालत पास करने के उपरांत उसने सन् 1772 में वकालत के कुछ वर्ष बाद ही बेन्थम ने प्रचलित कानूनों की त्रुटियों को उठाया तथा 1776 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'Paragraph of Percement' में ब्लैकस्टोन की इंग्लिश कानूनों की टीकाओं (commentaries) में प्रतिपादित सिद्धांताकें की आलोचना की। विधिशास्त्र के इस प्रकाण्ड पण्डित ने विधि सुधार के महत्त्वपूर्ण आंदोलन का संचालन किया जिसे सफलता मिली। वह एक ऐसा सुधारवादी सिद्ध हुआ जिसने इंग्लैंड के सामजिक आर्थिक एवं राजनैतिक क्षेत्र को अत्याधिक प्रभावित किया।

बेन्थम ने यूरोप का भ्रमण एवं फ्रांस के उपयोगितावादियों से प्रभावित होकर अपने विचारों में सुधार किया। 1792 में फ्रांस की राष्ट्रीय संसद ने उसे 'फ्रांसीसी नागरिक' की उपाधि से विभूषित किया। विधि और कारागारों से संबंधी अनेक ग्रंथ लिखने के कारण वह यूरोप में नहीं, अपितु अन्य देशों में भी प्रसिद्ध हो गया। सन् 1832 में 84 वर्ष की आयु में उसका देहांत हो गया।

5.4 प्रमुख कृतियाँ

1. Fragment of Government (1776)
2. Defense of Usury (1785)
3. Introduction to the Principle of Moral Legislation (1789)
4. Essay on Political Tactics (1791)
5. Theory of Punishment & Rewards (1811)
6. A Treatise of Judicial Evidence (1813)
7. The Book of Fallacies (1824)

5.5 उपयोगितावाद की आधारशिला

बेन्थम ने लॉक के प्रकृतिक अधिकारों की संकल्पना का खण्डन करते हुए उपयोगितावाद के अनुभवमूलक आधार (Empirical Basis) पर उदारवादी व्यक्तिवादी दृष्टिकोण की पुष्टि की है। बेन्थम ने तर्क दिया कि पूर्ण अधिकार (Absolute Rights), पूर्ण प्रभुसत्ता (Absolute Sovereignty) और पूर्ण न्याय (Absolute Justice) जैसी संकल्पनाएं सामाजिक जीवन से मेल नहीं खाती। मानव जीवन के मामलों में केवल एक ही पूर्ण मानदंड (Absolute Standard) लागू होता है कि पूर्ण इष्ट-सिद्धि (Absolute Expediency)। अतः सार्वजनिक नीति को एक ही कसौटी पर कसना चाहिए। अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख (Greatest Happiness of Greatest number)।

बेन्थम ने यूनानी दार्शनिक एपीक्यूरस के इस विचार को नए संदर्भ में दोहराया है कि मनुष्य को ऐसा व्यवहार करना चाहिए जिससे वह अपने सुख को बढ़ा सके और दुःख से बच सके। सुखवाद (Hedonism) के इस विचार का समर्थन करते हुए बेन्थम ने लिखा है कि प्रकृति ने मनुष्य को दो शक्तिशाली स्वामियों के नियंत्रण में रखा है, जिनके नाम है सुख और दुःख (Pleasure and Pain)। मनुष्य सदैव अपने सुख को पाना चाहता है और दुःख से बचना चाहता है। जो बात सुख को बढ़ाती है और दुःख को रोकती है या कम करती है उसे उपयोगिता कहा जाता है। सामाजिक समझौते और सामान्य इच्छा के सिद्धांत का खंडन करते हुए बेन्थम ने यह तर्क दिया कि समुदाय का हित उसके पृथक-पृथक सदस्यों के हित का जोड़ होता है। अतः किसी कार्यवाही का मूल्यांकन इस प्रकार करना

चाहिए कि सबसे पहले यह देखना चाहिए कि उससे प्रभावित होने वाले व्यक्तियों को उससे कितना सुख या दुःख पहुँचेगा। इन दोनों की तुलना करने पर जिस कार्यवाही से मिलने वाले सुख का पलड़ा सबसे भारी हो, वही सबसे उपयुक्त होगी।

बेन्थम के अनुसार सुख चार प्रकार से प्राप्त किए जा सकते है- 1. धर्म द्वारा 2. राजनीति द्वारा 3. नीति द्वारा एवं 4. भौतिक साधनो द्वारा। यदि किसी मनुष्य को धर्म में विश्वास रखने से सुख प्राप्त होता है तो उसे धर्म प्रदत्त सुख की संज्ञा दी जाएगी। इसी प्रकार यदि किसी को नैतिक कार्य करने से सुख की अनुभूति होती है तो उसे नैतिक सुख कहा जाएगा एवं आँधी, जल, वर्षा आदि से कोई लाभ होता है तो वह 'प्रकृतिक सुख' कहलाएगा। बेन्थम की मान्यता है कि अपने आप में कोई चीज भली-बुरी नहीं होती है, उपयोगिता के आधार पर भली-बुरी हो जाती है। मनुष्य के कार्य करने का प्रयोजन सुख की प्राप्ति है। मनुष्य सदैव सुख से प्रेरित होता है और दुःख से बचना चाहता है। सुख-दुःख में कोई गुणात्मक अंतर नहीं है। तर्क प्रधान एवं वैज्ञानिक पद्धति के प्रभाव के कारण बेन्थम का यह विश्वास था कि सुख-दुःख को मापा जा सकता है और इसी दिशा में उसने सुखवादी मापक यंत्र (Hedonistic Felicific Calculator) विकसित करने का प्रयास किया।

5.6 फैलिस्फिक कैल्कुलस या सुखवादी मापक यंत्र (Hedonistic Felicific Calculator)

सुखवादी विचारकों की भांति ही बेन्थम का भी यह मत था कि सुख और दुःख को मापा जा सकता है और दोनों की गणना के द्वारा ही अधिकतम व्यक्ति के अधिकतम सुख की स्थापना संभव है। इस गणना में बेन्थम ने सुख और दुःख के चार रूप माने हैं- गहनता, अवधि, निश्चितता जिससे वह कार्य को करेगा तथा समय की दूरी जिसके अनुसार वह घटित होगा। सामाजिक संबंधों में एक का सुख या दुःख दूसरे को प्रभावित करेगा। अतः इसकी ओर भी ध्यान देना चाहिए।

बेन्थम ने सामान्य सुख के निम्नलिखित 14 प्रकार बतलाएं हैः-

1. भार से मुक्ति संबंधी सुख, 2. संगति संबंधी सुख, 3.आशाजन्य सुख, 4.काल्पनिक सुख, 5.स्मरण सुख

6. निर्दयता संबंधी सुख, 7.दया संबंधी सुख, 8.धर्म से उत्पन्न सुख ,9.शक्ति सुख, 10.यश का सुख,11.मित्रता सुख

12. कुशलता का सुख,13.सम्पत्ति का सुख एवं, 14. ऐन्द्रिक सुख

इसी प्रकार बेन्थम ने दुःख के 12 प्रकार बताएं हैः-

1.संपर्क ,2.आशा,3.कल्पना, 4.स्मरण,5.निर्दयता,6.दया,7. धार्मिकता,8.अपयश,

9.शत्रुता,10.परेशानी,11.दुर्भावना एवं

12. दरिद्रता

बेन्थम के अनुसार परिणाम अथवा मात्रा को ध्यान में रखते हुए सुख या दुःख उसी अनुपात में कम या अधिक हो सकता है। सुख-दुःख की मात्रा निर्धारित करने के लिए बेन्थम ने निम्नलिखित सात कारकों के ज्ञान की बात कही हैः-

1.तीव्रता (Intensity), 2.कालावधि (Duration), 3.निश्चितता (Certainty), 4.समय की निकटता अथवा दूरी (Proximity of time or remoteness),5.जनन शक्ति (Fertility), 6.निशुद्धता (Purity),7. विस्तार (Extent)

बेन्थम के अनुसार प्रथम छः बातें तो व्यक्तिगत सुख-दुःख का मापदंड है किंतु समूह अथवा अनेक व्यक्तियों के सुख का परिणाम ज्ञात करना होता है तो उसमें हम 'विस्तार'(extent) पर ध्यान देते हैं। बेन्थम के अनुसार

उपर्युक्त कारकों का प्रयोग करके हम न केवल सुख-दुःख को माप सकते हैं बल्कि इनके द्वारा धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं नैतिक विश्वास एवं मूल्यों का निर्णय भी कर सकते हैं।

अपनी मान्यताओं को स्पष्ट करते हुए बेन्थम ने कहा कि कुछ सुख ऐसे होते हैं जिनमें तीव्रता होती है किंतु स्थायित्व नहीं होता। अतः उनसे कुछ दुःख उत्पन्न होता है। इसे विपरीत कुछ सुख विशुद्ध होते हैं और उनका स्थायित्व भी अधिक होता है, उनमें तीव्रता अधिक नहीं होती है। अतः सुख को विशेष मूल्यवान बनाने की ओर सदैव प्रयत्नशील होना चाहिए। सुख-दुःख की गणना करके किसी निश्चित परिणाम पर पहुँचने के लिए बेन्थम में जो प्रक्रिया बताई है वह इस प्रकार है - ''समस्त सुखों के समस्त मूल्य को एक ओर तथा समस्त दुःखों के समस्त मूल्यों को दूसरी ओर एकत्रित कर लेना चाहिए। यदि एक को दूसरे में से घटाकर सुख शेष रह जाए तो उसका अभिप्राय यह होगा कि अमुक कार्य ठीक है और दुःख शेष रहे तो समझ लेना चाहिए कि अमुक कार्य ठीक नहीं है क्योंकि उसका परिणाम दुःख होता है। बेन्थम के अनुसार यदि किसी काम का प्रभाव किसी दूसरे कार्य पर भी पड़ता हो तो यह उचित है कि हम उपर्युक्त प्रक्रिया को उनमें से प्रत्येक पर भी लागू करें और उनके हितों का भी ध्यान दें। यही सुख का विस्तार है।

5.7 राज्य संबंधी विचार

बेन्थम ने कोई राज्य की उत्पत्ति एवं प्रकृति से संबंधित कोई व्यवस्थित सिद्धांत नहीं दिया है। राज्य संबंधित उसके दर्शन को दो भागों में देखा जा सकता हैः-

1. आलोचनात्मक
2. विधेयात्मक

आलोचनात्मक भाषा का संबंध इन विचारो से है जिनके द्वारा बेन्थम ने अपनी पूर्ववर्ती राजनीतिक धारणाओं का खंडन करता है। अपनी सामजिक हित की व्यावहारिक बुद्धि एवं धारणा से प्रेरित होकर बेन्थम ने लॉक द्वारा विशेष रूप से प्रतिपादित प्रकृतिक अधिकारों (Natural Rights) के सिद्धांतों को पूर्णतः अमान्य ठहरा दिया है। बेन्थम ने राज्य की उत्पति के अनुबंधवादी एवं सावयव सिद्धांत को भी अस्वीकार कर दिया। समझौता सिद्धांत द्वारा आज्ञा पालन के कर्त्तव्य को कोई निश्चित प्रतिपादन नहीं होता है। व्यक्ति राजाज्ञा का पालन इसलिए नहीं करता है कि उसे पूर्वजों ने उसके लिए कोई समझौता किया था। व्यक्ति इसके लिए किसी ऐतिहासिक समझौता द्वारा बाध्य नहीं है। वह राज्य की आज्ञा इसलिए मानता है क्योंकि ऐसा करना उसके लिए उपयोगी है।

बेन्थम के विधेयात्मक भाग का संबंध इन विचारों से है जो राज्य संबंधी विषयों पर प्रकट किए गए है। बेन्थम का राज्य संबंधी विचार उपयोगितावाद पर आधारित है। वह राज्य को एक ऐसे मनुष्यों का समूह समझता है जिसे मनुष्य ने अपनी सुख वृद्धि के लिए संगठित किया है। उसके अनुसार राज्य का उद्देश्य है 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख'(The Greatest Happiness of Greatest Number)। व्यक्ति के चरित्र का सर्वोत्कृष्ट विकास करना राज्य का कोई कर्त्तव्य नहीं है।

बेन्थम की राज्य संबंधी धारणा में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अधिकतम सुख राज्य के सदस्यों का व्यक्तिगत सुखों का योग मात्र है जिसमें समस्त समाज का सामूहिक हित शामिल नहीं है। राज्य का अस्तित्व व्यक्ति के लिए है व्यक्ति राज्य के लिए नहीं है। बेन्थम के अनुसार राज्य की आज्ञा का पालन मनुष्य इसलिए करता है ऐसा करना उसके लिए उपयोगी है और आज्ञा पालन के संभावित दोष अवज्ञा के संभावित दोषों से कहीं कम है। उसका मत था कि राज्य एक विधि-निर्माता निकाय है, न कि एक नैतिक समुदाय जिसका ध्येय जनता का कल्याण होता ळै।

5.8 विधि एवं अधिकार संबंधी विचार

बेन्थम के अनुसार राज्य एक विधि निर्माता निकाय है। अतः जनता के साथ इसका संबंध कानून द्वारा स्थापित हो सकता है। इस प्रकार का कानून सम्प्रभु का आदेश हो सकता है। सम्प्रभु की इच्छा ही कानून के रूप में प्रकट होती

है। उसकी यह धारणा ह्यस के अनुरूप ही है। बेन्थम का कथन था कि सम्प्रभु के निश्चित आदेशों अर्थात कानून का पालन करना प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है क्योंकि इस आज्ञापालन में ही उसका और सबका कल्याण निहित है। बेन्थम ने विधि निर्माण के लिए अपने उपयोगितावादी सिद्धांत का प्रयोग करने की राय दी। प्रत्येक विधि को सर्वाधिक लोगों के सर्वाधिक कल्याण के उद्देश्य से बनाना चाहिए। सेबाईन के अनुसार, 'बेन्थम का विश्वास था कि अधिकतम सुख का सिद्धांत एक कुशल विधायक के हाथों में एक प्रकार का सार्वभौम साधन प्रदान करता है।

बेन्थम ने राज्य द्वारा निर्मित प्रत्येक विधि को उसकी उपयोगिता की कसौटी माना है। विधियों की उपयोगिता तीन प्रकार से सिद्ध होती हैः-

1. वह राज्य के नागरिक को सुरक्षा प्रदान करती है या नही
2. उससे लोगों की आवश्यकता की वस्तुएँ यथेष्ट मात्रा में उपलब्ध होने लगती है या नहीं एवं
3. प्रत्येक नागरिक एक दूसरे के साथ समानता का अनुभव करता है या नहीं।

यदि विधियाँ इन कसौटियों पर उपयोगी सिद्ध होती है तो विधि का लक्ष्य पूरा होता है। बेन्थम के अनुसार विधि निर्माण में निम्नलिखित चार बातों पर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिएः-

1. आजीविका (Subsistence)
2. प्रचुरता (Abundance)
3. समानता (Equality)
4. सुरक्षा (Security)

विधि निर्माण का इनके संदर्भ में ही देखना चाहिए अर्थात अधिकाधिक लोगों का हित इन बातों को ध्यान में रखते हुए विधि निर्माण करना चाहिए। बेन्थम ने अहस्तक्षेप-नीति को अपनाकर मुक्त व्यापार स्वछन्द प्रतियोगिता का समर्थन किया है। इस प्रकार उसने व्यक्तिवाद के आधारभूत सिद्धांतों का समर्थन किया। सत्ता का आधार उपयोगिता है। अतः लोकतंत्रात्मक राज्यों में कानून को सरल होना चाहिए, जिससे लोग इसे समझ सकें। साथ ही ऐसे कानूनों में लोगों के अधिकतम सुख का ध्यान रखना चाहिए।

बेन्थम के अनुसार, ''अधिकार मनुष्य के सुखमय जीवन के वे नियम हैं जिसे राज्य के कानूनों द्वारा मान्यता प्राप्त होती है'' अर्थात बेन्थम के विचार में अधिकारों का विधि सम्मत होना जरूरी है। प्रकृतिक अधिकारों का खंडन करते हुए उसने कहा कि अधिकार अनियंत्रित या अप्रतिबंधित नहीं हो सकते। उनका निर्धारण उपयोगिता के आधार पर होना चाहिए। बेन्थम के अनुसार जैसा कि सेबाईन ने लिखा है 'एक व्यक्ति के अधिकार का अभिप्राय यह है कि दूसरा कोई व्यक्ति उसकी स्वतंत्रता में हस्तक्षेप करेगा तो दण्ड मिलेगा। दण्ड के भय से ही दूसरा व्यक्ति पहले व्यक्ति की स्वतंत्रता में हस्तक्षेप रोका जा सकता है।'

बेन्थम ने सम्पत्ति के अधिकार की अवहेलना न करके सामान्य उपयोगिता के आधार पर उसका समर्थन किया है। बेन्थम के मतानुसार सम्पत्ति की सुरक्षा अधिकतम सुख प्राप्त करने की एक प्रधान शर्त है। उसका यह मत था कि विधि सम्पत्ति के समान वितरण के लिए क्रियाशील होनी चाहिए जिससे की मनमानी असमानताएं उत्पन्न न हो सके। व्यवहार में उसे सुरक्षा और समानता के बीच कामचलाऊँ संतुलन स्थापित करना चाहिए।

5.9 स्त्री एवं लैंगिक समानता

बेन्थम ने सरकार में महिलाओं की बराबरी की हिस्सेदारी के पक्ष में तर्क दिया। उन्होंने इस तर्क की आलोचना की कि कम दिमाग के कारण स्त्रियों को कमतर स्थान मिलना चाहिए। हेल्लेशियस के प्रभाव में बेन्थम ने स्त्रियों की जरूरत पर जोर दिया। अपनी रचना 'प्लान फॉर पार्लियामेंट रिफार्म' में बेन्थम ने स्त्री मताधिकार का पक्ष लिया लेकिन 'कंटीच्यूचनल कोड' में उन्होंने यह स्वीकार किया कि स्त्री मताधिकार में कुछ गलत नहीं था लेकिन समय इसके लिए परिपक्व नहीं था। ऐसा नहीं था कि स्त्रियों के पास मतदान की क्षमता और तर्क की कमी थी, लेकिन

कठिनाई यह थी कि पुरूषों की ओर से इतना तीव्र विरोध होगा कि इसे रोक देना पड़ेगा। जहाँ तक सरकार में महिलाओं की हिस्सेदारी का प्रश्न था, इससे सिर्फ मजाक और गड़बड़ी ही पैदा होगी। चूंकि पुरूष अपरिपक्व होने के कारण स्त्रियों को सरकार में साथ बैठने नहीं देंगे इसलिए बेन्थम ने स्त्रियों के मताधिकार का विरोध किया।

बेन्थम की दृष्टि में इस विचार का कोई आधार नहीं था कि सामाजिक असमानता का आधार प्रकृतिक असमानता थी। स्त्री-पुरूष के बीच प्रकृतिक अंतर स्त्रियों के दमन का आधार नहीं हो सकता। यदि स्त्रियां पुरूषों के मुकाबले बौद्धिक कार्य के लिए कम उपयुक्त दिख पड़ती है तो यह इसलिए कि उन्हे वह शिक्षा दी जाती है जिसके तहत उन्हे सूक्ष्मता एवं चरित्र रक्षा के बारे में बताया जाता है।

बेन्थम ने स्त्रियों के लिए शिक्षा का समर्थन करते हुए क्रिसवेमैथिया (1816) नामक नया पाठ्यक्रम तैयार किया। यह यूनिवर्सिटी कॉलेज का आधार बना, जो प्रथम इंग्लिश यूनिवर्सिटी थी, जिसमें बिना वर्ग, जाति, धर्म या लैंगिक आधार का भेद किए बिना भर्ती किया जाता था।

5.10 सारांश

अभावों और विरोधाभासों के बावजूद दर्शन और राजनीतिक चिंतन के इतिहास के बेन्थम को अत्याधिक सम्मानित स्थान प्राप्त है। राजनीतिक चिंतन के विभिन्न क्षेत्रों में उसका प्रभाव असाधारण है। उसने उपयोगितावाद को एक दार्शनिक सम्प्रदाय के रूप में स्थापित किया तथा उसको एक वैज्ञानिक आधार प्रदान किया। उसने शासन के स्वरूप को महत्ता प्रदान नहीं की है बल्कि शासन को उपयोगिता की दृष्टि में सुख निर्माण के लक्ष्य को अधिक महत्त्वपूर्ण माना है और उस संदर्भ में प्रत्येक प्रश्नों का उत्तर उसने पुरूष तथा स्त्री दोनों को ही ध्यान में रखकर दिया है।

बेन्थम ने लोकतंत्र और लोकतांत्रिक संस्थाओं का समर्थन किया है किंतु लोकतंत्र को केवल एक प्रक्रियात्मक स्वरूप में परिभाषित नहीं किया है। बेन्थम के विधि एवं न्याय संबंधित विचारों ने इंग्लैंड की न्याय व्यवस्था के सुधारों में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। मैकियावैली की भाँति बेन्थम ने राजनीति को नैतिकता से पृथक किया तथा नैतिकता के आधार पर प्रजा द्वारा विद्रोह का समर्थन नहीं किया। बेन्थम की सबसे बड़ी देन यह है कि उसने इस महान सिद्धांत की पुष्टि कि प्रत्येक शासन तंत्र को अपनी सार्थकता सिद्ध करनी चाहिए और समाज की अधिकाधिक सेवा करके अपने शक्ति का औचित्य अर्जित करना चाहिए।

5.11 शब्दावली

उपयोगितावाद सिद्धांत के अनुसार कोई भी कार्य जो बहुमत को लाभ पहुँचाती है या उपयोगी होती है वह 'सही' होता है। इस संदर्भ में अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख मार्गदर्शक होना चाहिए।

फेलिसिक केलुलस यह एक तकनीक है जिसके द्वारा किसी क्रिया द्वारा प्राप्त सुख या दुःखों की गणना की जा सकती है। बेन्थम ने इसे अपनी पुस्तक 'Principles of Morals and Legislation' (1789) में वर्णित किया है।

5.12 अभ्यास प्रश्न

1. बेन्थम के अनुसार सुख और दुःख को निर्धारित करने वाले कारको की संख्या कितनी है?

उ. सात (7)

2. बेन्थम से पहले किस यूनानी दार्शनिक ने सुखवाद की संकल्पना प्रस्तुत की थी?

उ. एपीक्यूरस।

5.13 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. A History of Political Thought – G.H. Sabine

2. पाश्चात राजनैतिक विचारो का इतिहास - पी.डी. शर्मा
3. इग्नु नोटस MPSE 003
4. राजनैतिक विचारों की रूपरेखा (vol-3)- ओ.पी.गाबा

5.14 सहायक/उपयोगी सामग्री

1. Political Ideologies - Andrew Heywood
2. Political Philosophies - C.C. Maxey

5.15 निबंधात्मक प्रश्न

1. बेन्थम ने आधुनिक अर्थो में उपयोगितावाद की आधारशिला रखी। विवेचना कीजिए।
2. बेन्थम के राज्य एवं विधि संबंधी विचारों की व्याख्या कीजिए।

इकाई 6 : जॉन स्टुअर्ट मिल (1806-73)

6.1 प्रस्तावना

6.2 उद्देश्य

6.3 जीवन परिचय

6.4 प्रमुख कृतियाँ

6.5 उपयोगितावाद की पुनर्समीक्षा

6.6 स्वतंत्रता संबंधी विचार

6.7 महिला अधिकार एवं लैंगिक समानता

6.8 राज्य संबंधी विचार

6.9 सारांश

6.10 शब्दावली

6.11 अभ्यास प्रश्न

6.12 संदर्भ ग्रंथ सूची

6.13 सहायक/उपयोगी अध्ययन सामग्री

6.14 निबंधात्मक प्रश्न

6.1 प्रस्तावना

19वीं शताब्दी में एक अंग्रेजी दार्शनिक, राजनीतिक और सिविल सेवक की भूमिका में जॉन स्टुअर्ट मिल, उदारवाद के इतिहास में सबसे प्रभावशाली विचारकों में से एक था। उसने व्यापक रूप से सामाजिक सिद्धांत, राजनीति सिद्धांत और राजनीतिक अर्थव्यवस्था के लिए योगदान दिया। उपयोगितावाद के बेन्थमवादी स्वरूप को उन्होंने एक नए स्वरूप से प्रस्तुत किया। उनकी स्वतंत्रता की धारणा ने असीमिति राज्य और सामाजिक नियंत्रण के विरोध में व्यक्ति की आजादी को एक नए स्वरूप में परिभाषित किया। मिल अपने समय का प्रथम दार्शनिक था, जिसने लैंगिक समानता एवं महिला अधिकारों का एक वैज्ञानिक आधार पर, मुखर रूप में समर्थन किया।

6.2 उद्देश्य:

इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप

- उदारवाद के दर्शन में मिल के योगदान को समझ सकेंगे
- अधिकार एवं व्यक्तिक स्वतंत्रता संबंधी उसके विचारों को समझ सकेंगे
- महिला अधिकार एवं लैंगिक समानता के समर्थक के रूप में मिल की भूमिका का अवलोकन कर सकेंगे

6.3 जीवन परिचयः

जॉन स्टुअर्ट मिल का जन्म 20 मई 1806 को लंदन में हुआ। उसके पिता जेम्स मिल बेन्थम क विचारों से अत्याधिक प्रभावित थे तथा उन्होंने अपने पुत्र को भी 'उपयोगितावाद' की दार्शनिक विरासत सौंपी। मिल ने जॉन आस्टिन से रोमन कानून तथा अन्य कानूनों की शिक्षा प्राप्त की। 16 वर्ष की आयु में वह 'उपयोगितावादी सोसायटी'(Utilitarian Society) का सदस्य बन गया और लगभग साढ़े तीन वर्षों तक वह वाद-विवादों में प्रमुख वक्ता रहा। 17 वर्ष की आयु में ईस्ट इण्डिया कम्पनी में एक क्लर्क के रूप में नियुक्त हुआ और सन 1856 में अपने विभाग के अध्यक्ष बने। 59 वर्ष की आयु में वह संसद सदस्य निर्वाचित हुए। सन् 1865 से 1868 तक संसद सदस्य के रूप में आयरलैण्ड में भूमि सुधार, किसानों की स्थिति, महिला मताधिकार, बौद्धिक कार्यकर्ताओं की स्थिति आदि के संबंध में अत्यंत क्रियाशील रहे। सन् 1873 में उनकी मृत्यु हो गई।

6.4 प्रमुख कृतियाँ

1. The System of Logic, 1834
2. The Principle of Political Economy, 1848
3. Enfranchisement of Women, 1853
4. A Treatise of Liberty, 1859
5. Considerations of Representative Government, 1860
6. Utilitarianism, 1861
7. Subjection of Women, 1869
8. Three Essay on Religion, 1874

6.5 उपयोगितावाद की पुनर्समीक्षा

मिल ने बेन्थम के उपयोगितावादी सिद्धांत में महत्त्वपूर्ण संशोधन करते हुए सुखवादी तत्वों का समावेश कर दिया। उसने उपयोगितावाद के स्थान पर व्यक्तिवाद पर अधिक बल दिया और इसलिए राजनैतिक चिंतन के क्षेत्र में उसे प्रायः 'अंतिम उपयोगितावादी' तथा 'प्रथम व्यक्तिवादी' दार्शनिक माना जाता है। उसने आरंभ में बेन्थम के सिद्धांत पर ही सुख की प्राप्ति एवं दुःख की नियुक्ति को व्यक्ति का अभिष्ट माना। किंतु आगे चलकर मिल सुख और दुःख के गुणात्मक अंतर को भी स्वीकार्य करता है जबकि बेन्थम केवल मात्रात्मक अंतर को ही स्वीकार्य करता है। कुछ सुख मात्रा में कम होने पर भी इसलिए प्राप्त करने योग्य है क्योंकि वे श्रेष्ठ और उत्कृष्ठ हैं। मिल के अनुसार सुखों में केवल कम या अधिक का ही अंतर नहीं होता, बल्कि उनके गुणों का भी अंतर होता है। मिल के शब्दों में, 'एक संतुष्ट शूकर की अपेक्षा एक असंतुष्ट मनुष्य होना कहीं अच्छा है, एक संतुष्ट मूर्ख की अपेक्षा एक असंतुष्ट सुकरात होना कहीं अच्छा है और यदि मूर्ख और शूकर का मत इससे विपरीत है तो इसका कारण यह है कि वे केवल अपना पक्ष ही जानते हैं, जबकि दूसरा पक्ष (सुकरात, मानव) दोनों ही पक्षों को समझता है।'

मिल ने सुख और दुःख के मध्य गुणात्मक भेद मानकर उपयोगितावाद को अधिक तर्कसंगत अवश्य बना दिया किंतु इससे बेन्थम का उपयोगितावादी दर्शन एक अलग रूप ले लेता है।

मिल द्वारा गुणात्मक विभेद को स्वीकार्य कर लेने से सुख और दुःख के मात्रात्मक मूल्यांकन की बेन्थमवादी युक्ति का कोई महत्त्व नहीं कर जाता है। मिल का मत था कि विद्वानों के प्रमाण ही सुखों की जाँच अथावा निर्णय के सही आधार हैं। ''दो सुख प्रदान करने वाली विभूतियों की प्रगाढ़ता का निर्णय उन्हीं शक्तियों द्वारा हो सकता है जिन्हें

दोनों अनुभूतियों का ज्ञान हो। वेपर के अनुसार 'मिल की यह धारणा थी कि आनंद गुण और मात्रा दोनों में ही भिन्न होते है''। उसके अनुसार जीवन का अंतिम उद्देश्य उपयोगितावादी नहीं, वरन शालीनता (Dignity) है।

मिल का कथन है कि केवल यही महत्त्वपूर्ण नहीं है कि मनुष्य क्या करता है, यह भी महत्त्वपूर्ण है कि उसके वह विशेष काम करने के तरीके क्या है। उपयोगितावाद में मिल की नैतिकतावाद की अवधारणा से बेन्थम की विचारधारा में क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ है।

बेन्थम ने उपयोगितावाद के भौतिक पक्ष पर बल देते हुए बाह्य बातों पर अधिक बल दिया जबकि मिल ने आंतरिक पक्ष को अधिक महत्त्व दिया। उसने बेन्थम के व्यक्तिगत और सामाजिक हितों में एकता और सामाजिक संबंध स्थापित करने का प्रयास किया। बेन्थम ने सुख प्राप्ति के लिए प्रेरित करने वाले चार बाह्य दबावों - शारीरिक, सार्वजनिक, धार्मिक और नैतिक की चर्चा की। वहीं मिल ने कहा कि हमारा अंतःकरण सुख-दुःख का अनुभव करता है कि नैतिक एवं सुख कार्यो से हमारे अंतःकरण को शांति और सुख प्राप्त होता है। सुख केवल सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक और शारीरिक नहीं वरन आत्मिक, मानसिक और अध्यात्मिक भी होता है।

यदि देखा जाए तो बेन्थम का उपयोगितावाद परम्परागत नैतिक मान्यताओं के मूल्यांकन की कसौटी है जबकि मिल का उपयोगितावाद एक ऐसा सिद्धांत है जिसमें उनके बौद्धिक स्वरूप की व्याख्या की जा सकती है। इसलिए मैक्सी (Maxey) ने लिखा है कि मिल के उपयोगितावाद की पुनर्समीक्षा में बेन्थम की मान्यताओं का बहुत कम अंश रह गया है।

6.6 स्वतंत्रता संबंधी विचार

मिल के स्वतंत्रता संबंधी विचारों का समावेश उसकी पुस्तक 'On Liberty' में है। उसकी मान्याता थी कि राज्य को वैयक्तिक स्वतंत्रता का हनन करने का कोई अधिकार नहीं है। 'जनता के शासन' के नाम पर बहुमत द्वारा अल्पमत पर मनचाहे प्रतिबंध लगाना अथवा लोकमत के नाम पर अनुचित कानूनों को थोप देना सर्वथा अवांछनीय है। 'ऑन लिबर्टी' में स्वतंत्रता के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए मिल ने लिखा है कि मानवजाति किसी भी घटक की स्वतंत्रता में केवल एक आधार पर ही हस्तक्षेप कर सकती है और वह है 'आत्मरक्षा'। मिल के अनुसार स्वतंत्रता के दो प्रकार है - 1. विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता (Freedom of Thought & Expression) तथा 2. कार्यो की स्वतंत्रता (Freedom of Action)।

मिल के अनुसार समाज और राज्य को व्यक्ति की वैचारिक स्वतंत्रता पर प्रतिबंध लगाने का कोई अधिकार नहीं है। किसी भी व्यक्ति को किसी भी प्रकार के विचार व्यक्त करने की स्वतंत्रता होनी चाहिए, चाहे वे विचार समाज के अनुकूल हो या प्रतिकूल। बौद्धिक अथवा वैचारिक स्वतंत्रता न केवल उस समाज के लिए हितकर है जो उसकी अनुमति देता है बल्कि उस व्यक्ति के भी हितकर है जो उसका उपभोग करता है। मिल के अनुसार '' यदि एक व्यक्ति के अतिरिक्त सम्पूर्ण मानव जाति एकमत हो जाए तो भी मानव जाति को उसे जबरदस्ती चुप करने का उसी प्रकार अधिकार नहीं है जिस प्रकार यदि वह शक्ति प्राप्त होता है तो उसे मानव जाति को चुप कराने का अधिकार नहीं था। मिल ने भाषण एवं विचार की स्वतंत्रता को मानसिक स्वास्थ्य के लिए महत्त्वपूर्ण माना है। इससे अधिकतम मनुष्यों को न केवल अधिकतम सुख की अनुभूति ही नहीं होती, बल्कि दूसरे द्वारा सत्य की खोज भी की जा सकती है। उस राजनीतिक स्वंतत्रता में उच्च नैतिक स्वतंत्रता का जन्म होता है। मिल के वैचारिक स्वतंत्रता संबंधी विचारों में इस बात पर बल दिया है कि ऐसे लोकमत का निर्माण होना चाहिए जो सहिष्णापूर्वक हो, जो आपसी मतभेदों को महत्त्व देता हो और जो नए विचारों का स्वागत करने के लिए तैयार हो।

वैचारिक स्वतंत्रता का महत्त्वपूर्ण पक्ष कार्य की स्वतंत्रता है। मिल का दृढ़ मत है कि 'विचारों की स्वतंत्रता अपूर्ण है यदि उन विचारों को क्रियान्वित करने की स्वतंत्रता न हो। मिल ने कहा कि लोकमत के नाम पर शासन जनता की स्वतंत्रता में बाधा पहुँचाता है। अतः यह आवश्यक है कि वैयक्तिक जीवन में राज्य द्वारा किया जाने वाला हस्तक्षेप समाप्त किए जाएं, पर कार्य स्वतंत्रता में मर्यादा का ध्यान अवश्य रखा जाना चाहिए। मिल के विचारों से यह निष्कर्ष निकलता है कि मानव जीवन के दो पहलू है व्यक्तिगत और सामाजिक। इसके अनुरूप वह व्यक्ति के कार्यों को दो भागों में विभाजित करता है-

1. स्व-संबंधी कार्य (Self-regarding Actions)

2. पर-संबंधी कार्य (Other-regarding Actions)

व्यक्ति के स्व.संबंधी कार्य वे हैं जिनसे अन्य व्यक्ति प्रभावित नहीं होते। इन कार्यों की परिधि व्यक्ति स्वयं से है। व्यक्ति को ऐसे कार्यों की अपनी इच्छानुसार करने की पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए। व्यक्तिगत कार्यों की स्वतंत्रता का अभाव समाज की प्रगति के लिए खतरा बन जाता है। मिल के अनुसार 'जिस प्रकार विज्ञान की प्रगति का आधार नवीन आविष्कार है, उसी प्रकार समाज में भी जीवन और गति का आधार नवीनता में निहित है। नवीनता के आभाव में जीवन शून्य हो जाएगा। अतः इस नवीनता की रक्षा के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्तिगत कार्यों में व्यक्ति को पूर्ण स्वतंत्रता हो।

पर-संबंधी कार्य व्यक्ति के वे कार्य है जिनसे समाज तथा अन्य व्यक्ति प्रभावित होते हैं। ऐसे कार्यों में राज्य द्वारा हस्तक्षेप किया जा सकता है क्योंकि यह व्यक्तियों के स्वतंत्र क्षेत्र का निर्धारण करती हैं। यदि व्यक्ति समाज में अभद्रता और अनैतिकता को प्रोत्साहन देता है अथवा ऐसे संगठन का निर्माण करता है जिससे सामाजिक शांति और सुरक्षा भंग होती हो, राज्य को अधिकार है कि वह उसके कार्यों में हस्तक्षेप करें। मिल के अनुसार अपना पूर्ण अहित करने वाले व्यक्तिगत कार्य भी राज्य द्वारा प्रतिबंधित हो सकते हैं जैसे कि आत्महत्या। बुरी आदतों अथवा क्रियाओं को रोकने के लिए राज्य को परोक्ष रूप से हस्तक्षेप करना चाहिए। इन परोक्ष रूपों मे निवारणात्मक उपाय, शिक्षा प्रसार, प्रोत्साहन, चित्र प्रदर्शन आदि की गणना की जा सकती है।

इस प्रकार मिल ने स्व-संबंधी एवं पर-संबंधी कार्य क्षेत्र में राज्य के हस्तक्षेप की गुंजाइश छोड़ी और यहाँ राज्य ही अपने कार्यक्षेत्र को निर्धारित करता नजर आता है। इन्हीं कारणों में बार्कर ने मिल को खोखली स्वतंत्रता का जनक कहा है।

6.7 महिला अधिकार एवं लैंगिक समानता

मिल की दृष्टि में स्त्रियों को मताधिकार, शिक्षा एवं नौकरी प्रदान कर उनकी स्थिति बेहतर की जानी चाहिए। इस प्रकार इस प्रश्न पर उदारपक्षी विचार लागू करके उन्होंने अलग स्थान बनाया। अपनी पुस्तक 'द सब्जेकशन' में तीन महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों के लिए समानता का समर्थन किया: मताधिकार, शिक्षा और नौकरी के समान अवसर। मिल ने बताया कि यौन समानता का विरोध तर्क से संबंधित नहीं था और इससे यह साबित नहीं होता कि स्त्रियां कमजोर और शासित है। बहुमत तर्क का विरोध करते हुए असमानता का समर्थन करता हैः चूंकि यह सामान्य आचार है, इसलिए यह अच्छा मान लिया गया है। स्त्रियों की निरंतर स्थिति, मिल की दृष्टि में, इसलिए है वे शारीरिक रूप से अधिक कमजोर है। वास्तव में स्त्रियों की दासता का स्त्रोत पुरूषों की तथाकथित शारीरिक शक्ति में है। पुरूषों में यह गुण बन जाता है, स्त्रियों के लिए धैर्य, त्याग, सर्म्पण गुणों का आकर्षण के गुण मान लिए गए।

वोल्स्टोनक्राफ्ट के समान मिल ने यह विचार अस्वीकृत कर दिया कि स्त्री का चरित्र पुरूष से अलग होता है और यह कि स्त्री का स्वभाव कृत्रिम होता है। उन्होंने यह भी अस्वीकार कर दिया कि मुक्त समाज में मुक्त स्त्री कभी नहीं देखी गई। स्त्रियों की स्थितियों के लिए वर्षों तक उनका दमन जिम्मेदार है न कि उसका स्वभाव। मानव चरित्र का निर्माण परिस्थितियों से होती हे। जब तक स्त्रियों को आजादी न मिले, वे स्वयं को प्रकट नहीं कर सकती। इसमें समय लग सकता है लेकिन यह उन्हे आजादी एवं पूर्ण विकास से वंचित रखने का कारण नहीं बन सकता।

मिल के अनुसार विवाह स्त्री को समान अधिकार न देकर पति की दासी बना देता है और कानून उसे बच्चों एवं सम्पत्ति का अधिकार तक नहीं देता। इसलिए ये अधिकार तथा उत्तराधिकार के अधिकार उन्हे मिलने चाहिए।

मिल ने पारिवारिक एवं राजनैतिक सत्ता के बीच लॉकवादी अलगाव का विरोध किया और परिवार संबंधी व्यापकतर प्रश्न उठाया। उन्होंने परिवार को पारंपरिक, न कि प्रकृतिक संस्था बताया लेकिन उसे राजनैतिक संस्था नहीं समझते है। 'ऑन लिबर्टी' में उन्होंने परिवार बनाम नागरिक क्षेत्रों का निजी सार्वजनिक भेद का विवेचन नहीं किया। यदि स्त्रियों को पूर्ण आजादी मिल जाए और वे अपनी क्षमताओं का पूर्ण उपयोग कर सकें तो समाज के पास गुणवत्ता का भंडार काफी बढ़ जाएगा। शिक्षा से सिर्फ महिलाओं का दिमाग विकसित होगा बल्कि समूचे समाज का फायदा होगा।

6.8 राज्य संबंधी विचार

मिल की मान्यता थी कि राज्य स्वार्थ की अपेक्षा मानव इच्छा का परिणाम है। मिल ने राज्य और उसकी संस्थाओं को स्वाभाविक मानने वालों तथा उन्हे अविष्कार और मानव प्रयासों का फल समझने वालों के बीच मार्ग ग्रहण किया है। उसका विश्वास है कि राज्य का विकास हुआ है, पर यह विकास जड़ वस्तुओं की तरह न होकर वस्तुओं के समान हुआ है; राज्य की उत्पत्ति मानव-हित के लिए हुई है क्योंकि जितने भी राजनीतिक संगठन है उन सबका अस्तित्व सार्वजनिक कल्याण के लिए हुआ है। राज्य के सकारात्मक पक्ष पर प्रकाश डालते हुए मिल ने व्यक्तियों के कार्यों में राज्य के हस्तक्षेप को पूर्णतः निषिद्ध न ठहरा कर वैयक्तिक विकास की कुछ स्थितियों में उसका हस्तक्षेप अनिवार्य माना है। उसकी मान्यता है कि व्यक्ति के सुख के लिए समाज का सुख आवश्यक नहीं है क्योंकि जीवन संघर्ष में सभी व्यक्ति समाज में समान नहीं है। राज्य आत्मविकास की सुविधाएँ प्रदान कर सभी व्यक्तियों के जीवन को सुखी बनाना चाहता है।

सकारात्मक राज्य में विश्वास होने के कारण मिल मानता है कि राज्य को कुछ नैतिक कार्य करने पड़ते हें। उसके मतानुसार राज्य का संविधान ऐसा होना चाहिए जिससे नागरिकों के सर्वोत्तम नैतिक एवं बौद्धिक गुणों का विकास हो सके। मिल राज्य द्वारा अनिवार्य सुख का समर्थक था और इसे स्वतंत्रता का अतिक्रमण नहीं मानता। वह सार्वजनिक स्वास्थ्य के कल्याण की दृष्टि से व्यापार तथा उद्योग पर सरकार का व्यापक नियंत्रण स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत है, लेकिन उन नियंत्रण की सीमाएँ उसने स्पष्ट नही की है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि मिल राज्य के रचनात्मक तथा निषेधात्मक दोनों प्रकार के कार्यों की व्याख्या करता है। राज्य का रचनात्मक कार्य वह है कि यह ऐसे स्वतंत्र वातावरण का निर्माण करें, जिसमें विचार मंथन, सत्यान्वेषण, अनुभव वृद्धि, चरित्र निर्माण आदि संभव हो सके। व्यक्ति अथवा समाज पर प्रतिबंध लगाना निषेधात्मक कार्य है।

6.9 सारांश

राजनीतिक चिंतन के जगत में मिल का मिश्रित स्थान है। एक ओर उसकी प्रशंसा के गीत गाए गए है। उसे दार्शनिक, न्यायशास्त्री और अर्थशास्त्री का दर्जा दिया गया है तो दूसरी ओर उसकी आलोचना की गई है और

आरोप लगाया है कि उपयोगितावादी के संरक्षक के रूप में उसने उपयोगितावाद की ही हत्या कर डाली है तथा प्रजातंत्र में दोषों और कमियों के सिवाय उसने और कुछ नहीं देखा है। वेयर और इनिवा जैसे विद्वानों ने उसके 'नारी स्वतंत्रता' संबंधी विचारों का विरोध किया। मिल ने उपयोगितावाद के तर्कशास्त्र को विकसित किया और आगमनात्मक पद्धति की त्रुटियाँ दूर की। मिल के विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के समर्थन में जो लिखा है, वह इस विषय पर सम्पूर्ण राजनीतिक साहित्य की सर्वश्रेष्ठ रचना है।

6.10 शब्दावली

उपयोगितावाद: वह सिद्धांत जिसके अनुसार कोई भी सार्वजनिक नीति या कानून बनाते समय यह देखना चाहिए कि वह 'अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख'(Greatest Happiness of Greatest Number) को बढ़ावा देता हो।

व्यक्तिवाद: वह सिद्धांत जो व्यक्ति को विवेकशील प्राणी (Rational Creature) मानते हुए यह मांग करता है कि सार्वजनिक नीति एवं नियमों का निर्माण करते समय व्यक्ति की अपनी निर्णय क्षमता (Judgment) को पूरी मान्यता दी जानी चाहिए।

6.11 अभ्यास प्रश्न

1. मिल ने कितने प्रकार की स्वतंत्रता की बात कही ?

उ. दो- विचार एवं अभिव्यक्ति की सवतंत्रता (Freedom of thought & Expression)

कार्यों की स्वतंत्रता (Freedom of Action)

2. मिल ने सुख और दुःख के मात्रात्मक अंतर के साथ-साथ किस प्रकार के अंतर की बात कही?

उ. गुणात्मक।

6.12 संदर्भ ग्रंथ सूची

- राजनीतिक विचारों की रूपरेखा - ओ.पी. गाबा
- राजनीतिक दर्शन का इतिहास - सेनाईन
- पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास - पी.डी. शर्मा

6.13 मग्रीसा उपयोगी/सहायक

1. Political Ideologies - Andrew Heywood
2. Political Philosophies - C.C. Maxey

6.14 निबंधात्मक प्रश्न

1. 'मिल खोखली स्वतंत्रता का जनक था'-बार्कर। इस कथन का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।

2. मिल के स्त्री एवं लैंगिक समानता संबंधी विचार की विवेचना कीजिए।

इकाई 7 : जॉन आस्टिन

7.1 प्रस्तावना

7.2 उद्देश्य

7.3 जीवन परिचय

7.4 प्रमुख कृतियाँ

7.5 विधि संबंधी विचार

7.6 सम्प्रभुता एवं राज्य संबंधी विचार

7.7 अधिकार एवं स्वतंत्रता संबंधी विचार

7.8 सारांश

7.9 शब्दावली

7.10 अभ्यास प्रश्न

7.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

7.12 सहायक/उपयोगी अध्ययन सामग्री

7.13 निबंधात्मक प्रश्न

7.1 प्रस्तावना

राजनैतिक विचारकों की उपयोगितावादी विचारको की श्रृंखला में जॉन आस्टिन के विचार महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। 19वी शताब्दी में आस्टिन ने विधि एवं सम्प्रभुता आधारित एक सशक्त राज्य की संकल्पना प्रस्तुत की, जिसको आगे चलकर प्रभुसत्ता का एकलवादी सिद्धांत (Monistic Theory) कहा जाता है। साथ ही आस्टिन ने प्रकृतिक अधिकारों का खंडन करते हुए विधि सम्मत राज्य की संकल्पना को प्रस्तुत किया जो राजनैतिक दर्शन में राज्य आधारित विचार (statism) की नींव रखता है। ऑस्टिन की अनुसार एक विधि आधारित राज्य ही मानव के लिए अत्यंत उपयोगी संस्था है.

7.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप

- आस्टिन के सम्प्रभुता के सिद्धांत का जान सकेंगे
- सम्प्रभुता एवं विधि के सिद्धांत को जान सकेंगे
- आस्टिन के दृष्टिकोण से राज्य की प्रकृति को समझ सकेंगे

7.3 जीवन परिचय

सफोलॉक मिलर के ज्येष्ठ पुत्र तथा आंग्ल विश्लेषणात्मक स्कूल के संस्थापक, जॉन आस्टिन का जन्म 1790 ई. में हुआ। आस्टिन अपनी प्रारम्भिक शिक्षा के बाद लगभग 17 वर्ष की आयु में सेना में भर्ती हो गए, किंतु पाँच वर्ष बाद ही उन्होंने नौकरी छोड़ दी। तत्पश्चात बैरिस्टरी की परीक्षा पास करके सन् 1818 में उन्होंने वकालत शुरू की, लेकिन इस व्यवसाय में वो सफल नहीं को सके। 1819 में इन्होंने सारा टेलर से शादी की और अपने पड़ासियों जेरेमी बेन्थम ओरे जेम्स और जॉन स्टुअर्ट मिल के करीबी दोस्त बने। सन् 1826 में उन्हें लंदन विश्वविद्यालय में अध्यापन कार्य मिला। वर्ष 1834 में उन्होंने अपने विश्वविद्यालय के पद से इस्तीफा दे दिया। आस्टिन न्याय शास्त्र का अध्ययन करने के लिए जर्मनी भी गए। वहाँ वे शाही कमीशनों के अध्यक्ष भी रहे। अपने जीवन के अंतिम वर्षों में वह अवसाद ग्रस्त एवं बीमार रहने लगे थे। वर्ष 1859 में उनका देहांत हो गया। ऑस्टिन का जीवन एवं उसके विचार उपयोगितावादी विधिक राज्य दर्शन के प्रतिपादन के निमित्त देखने को मिलता है जिसने राजनैतिक दर्शन को महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित करता है.

7.4 प्रमुख कृतियाँ

जॉन आस्टिन की कुल मिलाकर निम्नलिखित तीन पुस्तके प्रकाशित हुई-

1. The Province of Jurisprudence Determined
2. A Plea for Constitution
3. On the Study of Jurisprudence

7.5 विधि संबंधी विचार

आस्टिन के चिंतन में तत्कालीन इंग्लैंड की परिस्थितियों की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। उसकी मान्यता थी कि लोक विधि मनुष्य के प्रकृतिक विवेक की अभिव्यक्ति है जो मानव व्यवहार का नियमन करती है। उसने कानून को सकारात्मक (Positive) बताया और प्रकृतिक विधियों में अविश्वास प्रकट कर राजकीय कानून का एक पृथक क्षेत्र स्थापित किया जो राज्य की कानूनी प्रभुसत्ता के साथ निकट से जुड़ा है। उसने कानून को स्पष्टता और सुनिश्चितता प्रदान करने की चेष्टा की। उपयोगितावादियों की भाँति ही उसने प्रकृतिक कानून की धारणा को अमान्य ठहराया और कानून को परिभाषित करते हुए कहा कि

''कानून सुनिश्चित सर्वोच्च शक्ति (Determinate Superior) की इच्छा की अभिव्यक्ति है जिसके अनुसार एक निश्चित आचरण (A certain course of conduct) किया जाना चाहिए और जो व्यक्ति ऐसा नहीं करेंगे उन्हें दण्डित किया जाएगा।''

आस्टिन का कहना था कि कानून सामाजिक संबंधों का नियमन करता है, जिसका ध्येय न्याय तथा जन-कल्याण के साधन जुटाना है, वह सम्प्रभुसत्ताधारी की इच्छा की अभिव्यक्ति होती है। राज्य के विधानमंडल को उसका निरंतर संशोधन करने का अधिकार होना चाहिए। उसका कहना था कि सदाचार या विज्ञान और अर्थशास्त्र को भी कानून की श्रेणी में नहीं रखा जाना चाहिए। कानून केवल ऐसे नियम को मान सकते है जिसमें निम्नलिखित विशेषताएँ पाई जाती हैं-

1. उसकी उत्पत्ति किसी ऐसे स्त्रोत से होनी चाहिए जो निर्णय करने में समर्थ हो;

2. इसमें किसी आदेश की अभिव्यक्ति होनी चाहिए;

3. यह प्रमाणिक होना चाहिए अर्थात इसका उल्लंघन करने पर दंड का विधान होना चाहिए।

आस्टिन ने अपने समय के समस्त कानूनों को तीन वर्गों में विभाजित किया है -

1. निश्चित कानून (Proper Laws)
2. अनिश्चित कानून (Improper Laws)
3. प्रतीकात्मक कानून (Metaphorical Laws)

उसने इन तीनों के उपभेद भी किए हैं। निश्चित कानूनों को देवीय (Divine), राजकीय(Civil) एवं संवासों के कानून (Law of rule Association and other sub-voluntary institution) में बांटा गया जिसमें संवासों के कानूनो को पुनः दो उपवर्ग भौतिक विज्ञान विषयक कानून (Law of Sciences) तथा राजनीति अर्थशास्त्र आदि विषयक कानून (Law of Economics, Politics etc.) में बांटा गया।

अनिश्चित कानूनों को उसने दो उपवर्गों - सामाजिक और जातिगत परम्पराए तथा रीति रिवाज (Law of Social custom and Tradition) तथा अंतरराष्ट्रीय कानून (International Laws) में बांटा है।

आस्टिन के न्यायशास्त्र का विषय केवल राजकीय विधियों तक ही सीमित था। उसका यह मत था कि न्यायशास्त्र का संबंध केवल राज्य निर्मित विधियों से है और इन विधियों के निर्माण का एकमात्र अधिकार संप्रभु का है। आस्टिन के अनुसार परम्पराएँ तथा रीति-रिवाज कानून नहीं है, उन्हे सामाजिक नैतिकता कहा जा सकता है। वह अंतरराष्ट्रीय विधियों को निश्चित विधियां नहीं मानता क्योंकि उनको लागू करने वाली कोई संप्रभुता सम्पन्न शक्ति नहीं होती है। वे किसी निश्चयात्मक सम्प्रभु का आदेश नहीं होती, बल्कि शिष्टचार की ऐसी मान्य परम्पराएं होती है जिनका पालन अंतरराष्ट्रीय संबंधों के निमित्त संप्रभु राज्यों द्वारा किया जाता है। आस्टिन दैवीय कानूनों को सकारात्मक कानूनों की श्रेणी में नहीं रखता क्योंकि उनकी प्रमाणिता धार्मिक होती है न कि कानूनी।

अतः आस्टिन के शब्दों में सकारात्मक कानून ऐसा कानून है जिसे किसी प्रभुसत्तासम्पन्न व्यक्ति या व्यक्तियों के समुदाय के स्वाधीन राजनीतिक समाज के किसी सदस्य या सदस्यों के लिए निर्धारित किया गया हो, शर्त यह है कि कानून बनाने वाला व्यक्ति या व्यक्तियों का समुदाय उस समाज में सर्वसत्तासम्पन्न या सर्वोच्च हो।

7.6 आस्टिन का सम्प्रभुता का सिद्धांत

आस्टिन को निश्चयात्मक (Determinate) स्वतंत्रता का जनक माना जाता है। उसका सम्प्रभुता का सिद्धांत उसकी सकारात्मक कानूनों पर आधारित है। आस्टिन ने राज्य की उत्पत्ति और सम्प्रभुता पर विचार प्रस्तुत करते हुए उपयोगितावादियों की भाँति राज्य की उत्पत्ति के सामाजिक समझौता सिद्धांत का विरोध किया। उसके मतानुसार राज्य का अस्तित्व हमारी भलाई अर्थात उपयोगिता के लिए है। चूँकि राज्य को हम अपने लिए उपयोगी मानते है। अतः राज्य के आदेशों को स्वभावतः मानते है। राज्य और सरकार का उद्देश्य यही है कि अधिकतम लोगों को अधिकतम सुख प्रदान किया जाए।

सकारात्मक कानून को आधार बनाते हुए आस्टिन ने प्रभुसत्ता को परिभाषित करते हुए कहा कि ''यदि कोई निश्चित मानवीय सत्ता अपनी जैसी किसी अन्य सत्ता की आज्ञा मानने में अभ्यस्त न हो, बल्कि प्रस्तुत समाज के

सर्वसाधारण उसकी आज्ञा मानने में अभ्यस्त हो तो इस निश्चित मानवीय सत्ता को उस समाज में 'प्रभुसत्ताधारी' कहेंगे और (इस सत्ता समेत) उस समाज को राजनीतिक और स्वाधीन समाज कहा जाएगा।''

इसका मतलब यह हुआ कि किसी समाज को राजनीतिक और स्वाधीन समाज तभी माना जा सकता है जब उसके भीतर कोई ऐसी निश्चित मानवीय सत्ता विद्यमान हो कि सारे नागरिक उसी की आज्ञा माने में अभ्यस्त हों और स्वयं वह सत्ता किसी अन्य मानवीय सत्ता के अधीन न हो। दूसरे शब्दों में, इस सिद्धांत के अनुसार सम्प्रभुता राज्य का साभूत एवं अनिवार्य लक्षण है, उसके बिना कोई समाज राज्य का रूप धारण नहीं कर सकता।

आस्टिन की परिभाषा का विश्लेषण करने पर निम्नलिखित लक्षण इंगित होते हैं-

(1) प्रत्येक राज्य में कोई निश्चित मानव या मानव संस्था सर्वोच्च होती है और अधिकांश नागरिक उनकी आज्ञाओं के पालन का अभ्यस्त होते हैं। आस्टिन के अनुसार सम्प्रभु रूसो की सामान्य इच्छा जैसी भावनामूलक चीज नहीं हो सकती है और न ही संविधान या कानून जैसी कोई अमानवीय वस्तु सम्प्रभु हो सकती है। आस्टिन मानव या मानव संस्था को सम्प्रभु बनाता है और उसे निश्चयात्मक (Determinate) होना चाहिए, अर्थात जनता जैसी किसी अनिश्चयात्मक संस्था को आस्टिन सम्प्रभु स्वीकार नहीं करता। इस प्रकार आस्टिन के सिद्धांत में लोक-प्रभुसत्ता की धारणा अमान्य है। सम्प्रभु सत्ताधारी मानव या मानव संस्था की स्थिति अन्य समस्त सदस्यों और संस्थाओं से श्रेष्ठतर होना चाहिए क्योंकि तभी बहुसंख्यक लोगों की आज्ञाकारिता संभव है।

(2) यहाँ निश्चयात्मक मानव श्रेष्ठ (Determinate Human Superior) किसी अन्य उच्चाधिकारी की आज्ञा का पालन नहीं करता, उसके समादेश इच्छा का ही अन्य सभी लोगों द्वारा पालन किया जाता है। सम्प्रभु की आज्ञाएँ अनैतिक, अन्यायपूर्ण एवं अविचारपूर्ण होने पर भी वैध होती है और उसका विरोध नहीं किया जा सकता। इस प्रकार ऑस्टिन की प्रभुसत्ता असीम एवं निरंकुश है। जिस पर परम्पराओं, परामर्शों, रीति-रिवाजों आदि की कोई मर्यादा नहीं लगाई जा सकती है। सम्प्रभु की मान्यता द्वारा ही उनका अस्तित्व संभव है, इसके आभाव में उनका कोई वैचारिक अस्तित्व नहीं होता है। सम्प्रभु पर कोई भी नैतिक सीमा स्वयं उसके द्वारा आरोपित हो सकती है।

(3) समाज की बहुसंख्या पूर्ण रूप से सम्प्रभु की आज्ञा का अनुपालन करती है और यह अनुपालन कभी ही किसी दबाव के कारण नहीं होता, वरन् एक आदत के रूप में (Habitual Obedience) होता है। थोड़े समय के लिए यदि किसी के हाथ में आज्ञा प्रदान करने की शक्ति आ जाए तो उसे सम्प्रभु नहीं कहा जा सकता।

(4) सम्प्रभु द्वारा जो भी आदेश दिए जाते हैं वे सब कानून है; उसके आभाव में किसी कानून का अस्तित्व नहीं होता है। सम्प्रभु का आदेश न मानने वाले दण्ड के भागी होते हैं।

(5) सम्प्रभुता अविभाज्य होती है। सम्प्रभु अपने समान किसी अन्य मानव श्रेष्ठ की आज्ञा का पालन करने का आदि नहीं होता और कानून निर्माण का एकमात्र अधिकार उसी को प्राप्त होता है। अतः इसका स्वाभाविक अर्थ है कि राज्य की प्रभुत्व शक्ति का विभाजन नहीं किया जा सकता। यदि सम्प्रभुता से संबंधित कोई कार्य राज्य के किसी अन्य अधिकारी द्वारा सम्पन्न किया जाता है तो इसका अभिप्राय यह नहीं है कि सम्प्रभुता बंट गई बल्कि इसका आशय केवल यह है कि वह अधिकारी सम्प्रभु की आज्ञानुसार ही उसके द्वारा प्रदत्त शक्ति को जब चाहे तब वापस ले ले या उसका हस्तांतरण अन्य अधिकारी को कर दे।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आस्टिन ने सम्प्रभुता का एक विधिक सिद्धांत प्रस्तुत किया है जिसके निम्न पाँच प्रमुख लक्षण गिनाए जा सकते हैं-

1. पूर्णता (Absoluteness) ,2. सार्वभौमता (Universality),3. अदेयता (Inalienability)

4. स्थायित्व (Permanence) और 5. अविभाज्यता (Indivisibility)

7.7 अधिकार एवं स्वतंत्रता संबंधी विचार

आस्टिन ने अन्य उपयोगितावादियों की भाँति ही 17वीं एवं 18वीं शताब्दियों के विवेकवादियों की प्रकृतिक अधिकार एवं अप्रकृतिक कानून संबंधी धारणाओं को अमान्य ठहराया। इसने कहा कि अधिकार तो वही है जिन्हें सम्प्रभु द्वारा जनता को प्रदान किए गए जाएं और जो कानून द्वारा निश्चित हो । आस्टिन ने यह स्वीकार किया कि अधिकारों का निर्माण उपयोगिता के आधार पर होना चाहिए। अधिकारों को दैवीय होने के कारण मानना हमारी अज्ञानता और हठधर्मिता है।

आस्टिन के मत में स्वतंत्रता का औचित्य उपयोगिता है और सम्प्रभु अपने कानून द्वारा आवश्यकतानुसार स्वतंत्रता की सीमाओं को घटा-बढ़ा सकता है। उनके शब्दों में राजनीतिक अथवा नागरिक स्वतंत्रता वह स्वतंत्रता है जिसे एक सम्प्रभु सरकार द्वारा प्रजा के लिए अनुमोदित या स्वीकृत किया जाता है। आस्टिन ने इस प्रकार के विचारों को अमान्य ठहराया है कि राजनीतिक या नागरिक स्वतंत्रता का महत्त्व वैधानिक नियंत्रण से अधिक है। आस्टिन का मत था कि वैधानिक नियंत्रण भी उतना ही उपयोगी है जितनी स्वतंत्रता की स्वीकृति और इसलिए इन दोनों में प्राथमिकतर की समस्या पैदा नहीं होती। उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए वैधानिक निमंत्रण एवं स्वतंत्रता दोनों साधनों में जो भी अधिक लाभकारी होता है उसे सम्प्रभु द्वारा अपना लिया जाता है।

राज्यः

आस्टिन का यह मानना था कि राज्य का अस्तित्व उसकी उपयोगिता में समाहित है। उसका उद्देश्य सर्वाधिक हित की स्थापना एवं वृद्धि है। राज्य के आदेश का पालन इसलिए नहीं किया जाता कि यह स्वयं स्थापित किसी समझौते की देन है बल्कि इसलिए किया जाता है कि ऐसा करना हमारे लिए हितकर है। चूंकि राज्य हमारे लिए हितकर है अतः हम स्वभावतः राज्य के आदेशों का पालन करते हैं। राज्य एवं सरकार का मूल और सर्वोपरि उद्देश्य ही अधिकत लोगों को अधिकतम सुख प्रदान करना है। बेन्थम की भाँति आस्टिन ने यह स्वीकार किया है कि मानव जाति विभिन्न समुदायों में विभाजित है और समुदायों का उद्देश्य सार्वजनिक हित है। इसलिए मानव जाति का कुल हित विभिन्न समुदायों द्वारा प्राप्त हितों का योग है। उपयोगितावाद के प्रणेताओं से आस्टिन के विचारों में मुख्य अंतर यह है कि जहाँ दूसरों ने किसी विशेष समुदाय के अंदर लोगों के सुख-दुख का हिसाब लगाकर, उसके सदस्यों की उपयोगितापूर्ण स्थिति का मूल्यांकन किया है वहाँ आस्टिन ने अपनी 'उपयोगिता' के अंतर्गत सम्पूर्ण मानव जाति को समेट लिया है। दूसरे शब्दों में आस्टिन सार्वभौमिक उपयोगितावाद का समर्थन करते हुए यह मानता है कि यदि कोई समुदाय को हानि पहुँचाकर अपने हितों की पूर्ति करता है जिससे वो सही अर्थों में उपयोगी समुदाय नहीं है।

7.8 सारांश

राजनैतिक दर्शन की परम्परा में आस्टिन ने विधि सम्मत निर्दिष्ट प्रभुसत्ता के सिद्धांत के माध्यम से एक सशक्त राज्य की संकल्पना को प्रस्तुत किया। साथ ही अपनी प्रस्तुत संकल्पना को उपयोगितावादी परम्परा के अनुरूप भी रखा। हालांकि आस्टिन आस्टिन के सम्प्रभुता सिद्धांत की कटु आलोचना की गई तथापि यह स्वीकार करना होगा कि सम्प्रभुता के जिस कानूनी पहलु पर उसने बल दिया है वह अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। डायसी, जेम्य ब्राइस, हालैंड, बिलोभी जैसे विद्वानों ने आस्टिन के सिद्धांत का अनुसरण किया है। मैक्सी के अनुसार, 'राजनीतिक बहुलवादियों की आलोचनाओं के बावजूद आस्टिन का सिद्धांत प्रभावी है। यह सिद्धांत आज भी राष्ट्रीयता का प्रमुख आधार

बना हुआ है। ऑस्टिन को विश्लेषणात्मक विधि शास्त्र का प्रमुख प्रतिपादक माना जाता है। उसने नैतिकता एवं कानून को पूर्णरूप से पृथक कर विधि शास्त्र का गंभीर विवेचन प्रस्तुत किया है।

7.9 शब्दावली

प्रकृतिक अधिकार (Natural Rights)	वह अधिकार जो प्रकृति की देन माना जाता है और वैधानिक सत्ता उसको किसी भी मनुष्य से वापस नहीं ले सकती है।
सकारात्मक कानून (Positive Laws)	उन नियमों को समुच्चय जो किसी प्रभुसत्ताधारी (sovereign) की इच्छा को व्यक्त करती है। उनके अधिकार क्षेत्र में आने वाले सब लोगों के लिए इन नियमों का पालन करना अनिवार्य होता है और इसका उल्लंघन करने वालों को प्रभावशाली रूप में दंढ दिया जाता है।
लोक विधि (Common Law)	इंग्लैंड का वह कानून जो प्रचलित प्रथाओं (convention) की देन माना जाता है। वहां के न्यायधीश अपनी सूझबूझ (common sense) और तर्कबुद्धि (Reasoning) से अपने निर्णयों में इस कानून की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं और निर्णय भावी मुकदमों में पूर्वदृष्टांत (Precedent) के रूप में मान्य होते है।

7.10 अभ्यास प्रश्न

प्र. आस्टिन ने विधि को किन तीन वर्गो में बांटा थाः

उ. 1. निश्चित कानून (Proper Laws)
2. अनिश्चित कानून (Improper Laws)
3. प्रतीकात्मक कानून (Metaphorical Laws)

प्र. आस्टिन की सम्प्रभुता की प्रकृति क्या थी?

उ. विधिक (Legal)

प्र. आस्टिन के सम्प्रभुता के तीन प्रमुख लक्षण

उ. 1. पूर्णता (Absoluteness)
2. सार्वभौमता (Universality)
3. अदेयता (Inalienability)

7.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. राजनीतिक विचारों की रूपरेखा - ओ.पी. गाबा
2. पाश्चात्य राजनैतिक विचारों का इतिहास - पी.डी. शर्मा
3. History of Political Thought vol-2 - Sukhbir Singh
4. A History of Political Thought - G.H. Sabine

7.12 सहायक/उपयोगी सामग्री

1. Grammar of Politics - H.J. Laski
2. Political Philosophies - C.C. Maxey

7.13 निबंधात्मक प्रश्न

1. सम्प्रभुता क्या है ? आस्टिन के सम्प्रभुता सिद्धांत के प्रमुख विशेषताओं की चर्चा कीजिए।
2. आस्टिन के विधि संबंधी विचारो की व्याख्या कीजिए।

ईकाई 8: इमैनुअल काण्ट

8.1 प्रस्तावना

8.2 उद्देश्य

8.3 इमैनुअल कॉण्ट का जीवन परिचय

8.3.1 नैतिक स्वतन्त्रता की संकल्पना

8.3.2 नैतिक स्वतन्त्रता का व्यक्तिवादी दृष्टिकोण

8.3.3 व्यवहारिक विवेक और मानव गरिमा

8.4 राजनीति का स्वरूप

8.4.1 नैतिक प्रेरणा और कानूनी प्रेरणा में अंतर

8.4.2 क्रान्ति पर काण्ट के विचार

8.4.3 काण्ट के दर्शन का मूल्यांकन

8.5 सारांश

8.6 शब्दावली

8.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

8.8 संदर्भग्रन्थ

8.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

8.10 निबन्धात्मक प्रश्न

8.1 प्रस्तावनाः-

उदारवाद के अन्तर्गत मनुष्य को विवेकेशील प्राणी मानते हुए यह सोचा जाने लगा था कि मनुष्य का विवेक केवल अपने स्वार्थ का सही-सही हिसाब लगाने की क्षमता लगाने की क्षमता हैं। आदर्शवाद वह सिद्धान्त है, जिसमें विचार-तत्व (Idea) या चेतन-तत्व (Consciousness) को सृष्टि का सार-तत्व और संपूर्ण परिवर्तन का प्रेरक तत्व मानकर चलते है। इस दृष्टिकोण के अनुसार, भौतिक जगत की तरह सामाजिक और राजनीतिक संस्थाए भी विचार तत्व की अभिव्यक्ति मात्र है। किसी सामाजिक संस्था में निहित विचार-तत्व जितना उन्नत, उत्कृष्ट या उदात्त होगा, वह संस्था उतनी उन्नत और महान होंगी। आदर्शवाद का यह सिद्धान्त आदर्श ;प्कमंसद्ध की कल्पना से अनुप्राणित होकर समाज को नैतिक मूल्यों की ओर प्रेरित करता है। आदर्शवादियों के अनुसार राज्य एक नैतिक संस्था है और राजकीय संगठन द्वारा ही व्यक्ति को योग्य, विवेकेशील और नैतिक बनने के अवसर प्राप्त होते है। प्लेटो, अरस्तू की भांति आदर्शवादी राज्य को उपयोगितावादी पैमाने से नहीं नाप कर उसे एक सर्वोच्च नैतिकता का संस्थागत रूप मानते है। जर्मन दार्शनिक हीगल तो बिस्मार्क के राष्ट्रीय राज्य को भगवान का अवतार तक बतलाता है। इमैनुअल काण्ट भी उसमें रूसों की सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व ढूंढता है, किन्तु अंग्रेज दार्शनिक ग्रीन ने इस उग्र आदर्शवाद को उदार ब्रिटिश परम्पराओं में ढालकर एक लोकतांत्रिक राज्य का दर्शन बनाया।

8.2 उद्देश्यः-

आदर्शवादियों के अनुसार नैतिक संस्था होने के कारण राज्य का समाज में अस्तित्व आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। ''मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है'' इसलिए वह समाज अथवा राज्य से पृथक रहकर कभी शांति प्राप्त नहीं कर सकता। आदर्शवाद व्यक्ति और राज्य में कोई विरोध नहीं मानता। राज्य बनाम व्यक्ति जैसे किसी भी सम्भावित विवाद को वह एक भ्रान्त धारणा मानता है। राज्य का उद्देश्य मानव-व्यक्तित्व का पूर्ण तथा स्वतन्त्र विकास करना है। अतः राज्य के विरूद्ध व्यक्ति के अधिकारों और व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए घातक राज्य की शक्ति के संपूर्ण विचार को ही त्याग देना चाहिए। आदर्शवादियों की मान्यता है कि राज्य की सच्ची जड़े व्यक्ति के हृदय में है और एक असभ्य, बर्बर एवं मूर्ख पशुवत आचरण करने वाले मनुष्य को सुसंस्कृत मानव एवं दिव्य बनाने वाली यह संस्था निश्चय ही व्यक्ति की सच्ची मित्र है।

8.3 इमैनुएल काण्ट का जीवन परिचयः-

इमैनुएल काण्ट का जन्म 1724 ई0 में जर्मनी के कोनिंग्सबर्ग प्रदेश में हुआ और 1804 में उनका देहावसान हो गया। जीवन-पर्यन्त अविवाहित रहकर उसने अपना सारा समय दर्शन, गणित और नीति शासन के गहन अध्ययन में व्यतीत किया। अपनी शिक्षा पूर्ण करने के उपरान्त कोनिंग्सबर्ग विश्वविद्यालय में काण्ट की प्रधानाध्यापक के पद पर नियुक्ति हुई और वहीं पर बाद में उसने आचार्य का पद संभाला। उसने अपने जन्म स्थान से बाहर कभी भ्रमण नहीं किया। वह 30 वर्ष से अधिक समय तक कोनिंग्सबर्ग के विश्वविद्यालय में ही न्याय शास्त्र और आध्यात्म शास्त्र का शिक्षक रहा। फ्रांस की राज्य क्रान्ति तथा अमेरिका के स्वाधीनता संग्राम ने काण्ट की विचारधारा को अत्यधिक प्रभावित किया था। तत्कालीन इंग्लैण्ड की स्थिति का भी उसे प्रचुर ज्ञान था। काण्ट ने मौलिकता के नाम पर अपने दर्शन में कोई नवीनता व्यक्त नहीं की। रूसों एवं माण्टेस्क्यू के राजनीतिक दर्शन से ही उसने प्रेरणा ग्रहण की और उनके विचारों को ही अपने ढंग से क्रमबद्ध किया। प्रसिद्ध इतिहासकार डनिंग के शब्दों में-''राज्य के उद्भव और स्वरूप के सम्बन्ध में काण्ट का सिद्धान्त ठीक वही था जो रूसों का था और उसी को उसने अपनी तर्कपूर्ण शैली से अपने शब्दों में व्यक्त किया है।'' उसने मानव को सर्वथा साध्य मानकर प्रजातान्त्रिक आदर्शवाद की आधारशिला रखी। काण्ट ने 40 से भी अधिक ग्रन्थ और निबन्ध लिखे। जिनमें कुछ निम्न है-

1. The Critique of Pure Reason-1781
2. The Critique of Practical Reason-1788
3. The Critique of Judgement-
4. Metaphysical First Principal of the theory of Law, 1799
5. Eternal Peace – 1796

8.3.1 नैतिक स्वतन्त्रता की संकल्पनाः-

नैतिक स्वतन्त्रता की संकल्पना काण्ट के राजनीतिक-दर्शन का सार-तत्व है। यह विचार तात्विक इच्छा (Real Will) के बारें में जे जे रूसों की संकल्पना से प्रेरित है, परन्तु काण्ट ने इसे अपने ढंग से विकसित किया। काण्ट के विचार से तर्कबुद्धि या विवके मनुष्य के चरित्र का आधार तत्व है। इसकी प्रेरणा से वह यह सीखता है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने आप में साध्य माना जाए, किसी दूसरे के स्वार्थपूर्ति का साधन न माना जाए। यह विचार उसे अपने कर्तव्य का बोध कराता है। इस कर्तव्य की भावना से प्रेरित इच्छा में ही उसकी स्वतन्त्रता निहित है। अतः उसकी नैतिक स्वतन्त्रता ही उसकी सच्ची स्वतन्त्रता है।

काण्ट नैतिक स्वतन्त्रता की धारणा को स्पष्ट करते हुए बतलाता है कि मनुष्य कुछ मान्य सिद्धान्तों के अनुसार कार्य करता है, जो बुद्धि प्रधान और सदाचरण से सम्बन्धित है। ये स्वतन्त्र इसलिए है कि इनके पालन में व्यक्ति किसी बाहरी नियम का पालन नहीं कर उन नियमों का पालन करता है, जो स्वयं उसके अन्तःकरण की आवाज है। काण्ट ने इस प्रकार के नियमों को, अटल आदेश (Categorical Imperative of Duty) की संज्ञा दी है। कर्तव्य के अटल आदेश की व्याख्या से काण्ट की नैतिक स्वतन्त्रता की धारण और स्पष्ट हो जाती है, क्योंकि इन दोनों का

परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। काण्ट का कथन है कि कर्तव्य भी अटल आदेश है, जो एक विशेष प्रकार के कार्य की मांग करता है, लेकिन सशर्त की अपेक्षा यह 'निरपेक्ष' है। वास्तव में हमारे कर्तव्य पालन का कर्तव्य न तो किसी विशेष वस्तु की इच्छा पर निर्भर करता है और न ही किसी 'यदि' की शर्त से ही प्रतिबन्धित होता है। मनुष्य को चाहिए कि वह अपने कर्तव्य का नैतिक नियम के अनुसार पालन करें। ऐसा उसे इसलिए नहीं करना चाहिए कि वह स्वास्थ्य, धन, यश अथवा शक्ति आदि की कामना करता है बल्कि केवल इसलिए कि वह उसके वास्तविक स्वरूप का नियम है और ऐसा करके ही वह शाश्वत सत्य को प्राप्त कर सकता है। हमारी इच्छा उस हद तक शुभ है जहॉ तक हमारे 'कर्तव्य के सापेक्ष आदेश' से निर्धारित होती है। इसलिए नहीं कि वह क्या करती है या नहीं करती है। काण्ट के शब्दों में, ''संसार में या संसार के बाहर भी हम किसी ऐसी चीज की कल्पना नहीं कर सकते जो निरपेक्ष रूप की अपेक्षा अच्छी हो। निरपेक्ष रूप की अपेक्षा केवल सद्भावना ही शुभ होती है। बुद्धि, चातुर्य, निर्णय शक्ति तथा मस्तिष्क के अन्य गुण निश्चित रूप से बहुत सी बातों से शुभ और वांछनीय होते है, परन्तु यदि इनका प्रयोग करने वाली इच्छा अथवा चरित्र शुभ नहीं है, तो प्रकृति के ये उपहार अत्यन्त अशुभ और आपत्तिजनक हो जाते है।'' काण्ट के अनुसार, ''मनुष्य की नैतिक स्वतन्त्रता का आशय यह है कि नैतिकतापूर्ण आचरण से ही स्वतन्त्रता प्राप्त हो सकती है, क्योंकि नैतिकता व्यक्ति पर बाहर से थोपी गई वस्तु नहीं होकर उसके स्वयं के अन्तःकरण का ही आदेश है।''

काण्ट के अनुसार मानव जीवन का मूल तथ्य नैतिक स्वतन्त्रता है, जो नैतिक नियम का पालन करने में निहित है, अतः प्रश्न यह उठता है कि, ''इस नैतिक नियम के अनुसार हमें क्या करना चाहिए? काण्ट के मतानुसार हम बिना किन्हीं बाहरी बातों पर विचार किए सदैव अपने कर्तव्य पालन में संलग्न रहें। हम स्वयं में एक ऐसी इच्छा उत्पन्न करें जो अपने आप में स्वयं शुभ हों। काण्ट ने नैतिक नियम के पालनार्थ कुछ पंक्तियां निगमित की है जो निम्न है।

1.व्यवहार सार्वभौमिक होना चाहिए। मनुष्य को वहीं कार्य करना चाहिए जिसे सब कर सके, जो सबके लिए उचित हों।

2.अपने में अथवा किसी भी दूसरे व्यक्ति में जो मानवता है, उसे सदैव साध्य समझते हुए आचरण करना चाहिए। उसे साधन कभी नहीं मानना चाहिए, क्योंकि वह साधन कभी नहीं बनती। इस प्रकार के आचरण से मानवता उच्चतर बनती जाती है।

3.आचरण इस प्रकार किया जाना चाहिए जिससे मनुष्य साध्यों के राज्य का सदस्य बना रहे। आचरण के समय हमें मानव जाति के प्रति भ्रातृत्व की भावना रखनी चाहिए।

8.3.2 नैतिक स्वतन्त्रता का व्यक्तिवादी दृष्टिकोण:-

नैतिक स्वतन्त्रता का स्रोत स्वयं व्यक्ति है- कोई वाह्य व्यवस्था नहीं, इसलिए काण्ट का चिंतन व्यक्तिवादी दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करता है। परन्तु जब सब व्यक्ति अपने कर्तव्य का ज्ञान प्राप्त करके एक जैसी इच्छा करने लगते है, तब वह सार्वजनिक नियम के रूप में व्यक्त होती है। जैसे कि जब प्रत्येक व्यक्ति की तर्कबुद्धि उसे शिक्षा देती है- 'चोरी मत कर' तब यह विचार सार्वजनिक नियम का रूप धारण कर लेता है। इस तरह के नियमों का समुच्चय कानून के रूप में सामने आता है, और उसे लागू करने के लिए राज्य की जरूरत पैदा होती है। अतः नैतिक स्वतन्त्रता का विचार ही राज्य के अस्तित्व का कारण है। इसी तर्क के अनुसार राज्य सामाजिक अनुबंध का परिणाम है। अनुबन्ध के माध्यम से मनुष्य अपनी वाह्य स्वतन्त्रता का त्याग कर देते है ताकि वे एक 'सार्वजनिक

व्यवस्था' के सदस्यों के रूप में तुरन्त अपनी स्वतन्त्रता को फिर से प्राप्त कर सकें। इसके माध्यम से वे अपनी जंगली नियम विहीन स्वतन्त्रता' को इसलिए तिलांजलि दे देते है, ताकि वे उसकी जगह 'परिपूर्ण स्वतन्त्रता' स्थापित कर सकें। यह स्वतन्त्रता कभी लुप्त नहीं होती क्योंकि यह उनकी अपनी स्वतन्त्र विधायी इच्छा की देन हैं। काण्ट के अनुसार मनुष्य केवल अपनी स्वतन्त्र इच्छा से ही दूसरों के साथ कोई सम्बन्ध स्थापित कर सकते है। अतः किसी भी अनुबन्ध का ध्येय 'परस्पर लाभ' होना चाहिए। किसी एक पक्ष के स्वार्थ को बढ़ावा देना नहीं। काण्ट ने व्यक्ति के नैतिक स्वशासन पर बार-बार बल दिया। हीगल के सर्वथा विपरीत उसने व्यक्ति की गरिमा एवं महत्ता को पर्याप्त सम्मान प्रदान किया। वस्तुतः व्यक्ति की स्वतन्त्र इच्छा ही उसके दर्शन का केन्द्र बिन्दु तथा आरम्भ स्थल है। काण्ट के अनुसार व्यक्ति अपना उद्देश्य स्वयं है और कभी भी किसी अन्य साध्य का साधन नहीं माना जा सकता है। काण्ट ने व्यक्तिगत स्वार्थ के साथ सार्वजनिक हित का भी ध्यान रखा। वह नहीं चाहता कि व्यक्ति समाज की सर्वथा उपेक्षा कर केवल निजी स्वार्थ के लिए ही कार्य करें। काण्ट के शब्दों में, ''सदेच्छा के अतिरिक्त संसार में या उससे बाहर किसी ऐसी वस्तु की कल्पना नहीं की जा सकती है, जिसे निर्बाध इच्छा कहा जा सकें। काण्ट उस युग का प्रतिनिधित्व करता है जब व्यक्तिवाद पूर्णतः लुप्त नहीं हो पाया था। वह स्वतन्त्रता को इतना बहुमूल्य समझता है कि राज्य की वेदी पर उसका बलिदान नहीं करना चाहता। व्यक्ति पर राज्य का नियंत्रण उसे पसंद नही। यद्यपि वह मानता है कि वैयक्तिक स्वतन्त्रता सामूहिक अथवा सार्वजनिक हित के अधीन माननी चाहिए, किन्तु हीगल की भॉति वह उसे निर्दयतापूर्वक कुचलने को तैयार नहीं है। वाहन ;टंनहींदद्ध के अनुसार, ''न्याय तथा व्यक्तिगत स्वाधीनता के बीच उसे मस्तिष्क में स्पष्टतः एक मानसिक संघर्ष चल रहा है और उसे दोनों में समन्वय स्थापित करने का कोई मार्ग नहीं सूझता। वह इतना ईमानदार है कि दोनों में से किसी एक का भी बलिदान करने को प्रस्तुत नहीं है।

काण्ट ने व्यक्ति के स्वशासन पर इतना बल दिया है, जिससे व्यक्ति का राज्य की सदस्यता के सामन्जस्य मुश्किल लगता है, क्योंकि यदि नैतिक नियम के अनुसार आचरण करके ही व्यक्ति सच्ची स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकता है, तो उसके जीवन में स्पष्ट ही राज्य के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता, तो फिर राज्य की आवश्यकता क्यों हैं? काण्ट के अनुसार मनुष्य में स्वार्थ की प्रवृत्ति पायी जाती है। वह सदैव स्वयं को अधिकाधिक सुखी बनाना चाहता है। चाहे इससे दूसरों को हानि ही क्यों न हों? बाह्य रूप से मनुष्य समान है, किन्तु उनकी प्रवृत्तियों में बहुत अधिक असमानता है। राज्य ही एकमात्र संस्था है, जो प्रत्येक व्यक्ति के लिये उन्नति करने की अवस्थाएं प्रदान करती है। इसके लिए राज्य केवल व्यक्ति को अधिकार प्रदान करता है। राज्य स्वतन्त्रता का पोषक है-उस स्वतन्त्रता का जो नैतिकता और कर्तव्य पालन के लिए आवश्यक हैं। काण्ट राज्य के अस्तित्व में जन इच्छा को महत्व देता है। जनता द्वारा राज्य को यह अधिकार दिया गया है कि वह उसे नियंत्रित और व्यवस्थित रखें, पर जनता को विद्राह अथवा विरोध करने का अधिकार नहीं हैं, क्योंकि जनता की कोई एकीकृत इच्छा नहीं होती बल्कि विभिन्न एवं विरोधी इच्छाएं होती हैं। राज्य ही वह सर्वोच्च इच्छा हैं, जिसके समक्ष जनता को अपना समर्पण करना चाहिए। काण्ट की मान्यता है कि व्यक्ति जिस वस्तु की कामना करें वह यथा सम्भव ऐसी होनी चाहिए जिसे सार्वभौमिक नियम का रूप दिया जा सकें। काण्ट के अनुसार राज्य नैतिक जीवन के लिए आवश्यक शर्त है। नैतिक नियम से नियमित किए जा सकने वाले सर्वव्यापक कानूनों को राज्य ही भली प्रकार कार्यान्वित कर सकता है, और इसलिए वह निश्चित रूप से एक सकारात्मक अच्छाई है न कि आवश्यक बुराई। काण्ट ने व्यक्ति और राज्य दोनों को ही महत्व दिया है।

सामान्य आदर्शवादियों की भॉति काण्ट भी व्यक्तिगत सम्पत्ति की व्यवस्था स्वीकार करता है। सम्पत्ति के विषय में उसके विचार पूर्ण व्यक्तिवादी है। उसकी मान्यता है कि, ''सम्पत्ति के बिना मनुष्य का पूर्ण विकास नहीं हो सकता,

क्योंकि सम्पत्ति उसकी इच्छा की ही अभिव्यक्ति है।'' फिर भी वह सम्पत्ति का अधिकार देते समय व्यक्ति पर अपने पड़ोसी के अधिकारों के सम्मान का बन्धन अवश्य लगाता है। इस विचार के मूल में उसकी यह मान्यता है कि सम्पत्ति का अधिकार वस्तुतः प्रकृतिक नहीं होकर समाज प्रदत्त है। व्यक्तिगत सम्पत्ति के लिए किसी व्यक्ति को दूसरे के अधिकारों का हनन नहीं करना चाहिए। सम्पत्ति के अधिकार के प्रयोग के लिए उन समस्त व्यक्तियों की आवश्यकता होनी चाहिए जिनकी उसमें रूचि हो सकती है।

8.3.3 व्यवहारिक विवेक और मानव गरिमा

ज्ञान मीमांसा के क्षेत्र में अपने 'अनुभवातीत आदर्शवाद' का प्रतिपादन करते हुए काण्ट ने यह तर्क दिया है कि सृष्टि के बारें में हमारा ज्ञान केवल ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त होने वाले गूढ़ और बिखरे हुए संकेतों पर आधारित होता है, जिन्हे हमारा मन तर्कसंगत रूप में समन्वित कर के सार्थक अनुभव का आकार देता है। अतः हम इस जगत का जो ज्ञान प्राप्त करते है उस पर ज्ञाता की छाप लगी होती है। परन्तु यह सृष्टि अपने-आप में क्या है, कैसी है-इसका ज्ञान प्राप्त करना हमारे लिए संभव नहीं है। दूसरे शब्दों में, हम अपने अनुभव के आधार पर सृष्टि के यर्थाथ स्वरूप का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। इसके लिए हमारे पास एक ही उपाय रह जाता है, और वह यह है कि हम अपने व्यवहारिक विवेक का सहारा लेकर 'मन' और 'जगत' के परस्पर सम्बन्ध का पता लगा सकते है। यह बात महत्वपूर्ण है कि हमारी सारी संकल्पनाएं मानवीय गतिविधियों के सन्दर्भ में जन्म लेती है। ये गतिविधियां श्रम, विज्ञान, और सब तरह की कलाओं के रूप में व्यक्त होती है जो विश्व को मानवीय उद्देश्यों और योजनाओं के अनुरूप ढालना चाहती है। अतः दर्शन की स्थापना इस ज्ञान के आधार पर करनी चाहिए कि मनुष्य अपने जीवन की मुख्य-मुख्य गतिविधियों के द्वारा विश्व को मनचाहा रूप देने के लिए कौन-कौन से तरीके अपनाते हैं? मनुष्य का व्यवहारिक विवेक भौतिक जगत के कार्य-कारण संबन्ध के नियमों से नहीं बधा है, बल्कि यह 'सद-असद' अर्थात भले-बुरे में अन्तर करने मे समर्थ है। अतः वह 'नैतिक नियम' से मार्गदर्शन प्राप्त करता है जो कि तत्वमीमांसा की बुनियाद है। इस तरह काण्ट ने नैतिक नियम की प्रभुसत्ता का सिद्धान्त प्रस्तुत किया है जिसने आदर्शवादी दर्शन को विशेष रूप से आगे बढ़ाया है।

काण्ट के अनुसार बुद्धि में इतनी सामर्थ्य नहीं है कि वह इस बाह्य जगत के मूल तत्व को प्रकट कर सकें। बुद्धि तो केवल उसी बात को प्रकट करती है, जिसका उसे अनुभव होता है, लेकिन ईश्वर, आत्मा, भावी जीवन आदि कुछ बातें ऐसी भी है जो अनुभवातीत है। बुद्धि केवल अनुभवजन्य ज्ञान तक सीमित है, अतः वह है जो अनुभवातीत पदार्थों के बारें में कुछ नहीं कर सकती। वॉल्टेयर ने बुद्धिवाद के आधार पर धर्म और ईश्वर का खण्डन किया था जबकि काण्ट ने कहा कि ईश्वर का खण्डन बुद्धि से नहीं किया जा सकता, क्योंकि ईश्वर तो बुद्धि से परें है। ईश्वर बुद्धिगम्य नहीं है, अपितु श्रद्धागम्य है।

यद्यपि काण्ट ईश्वर को बुद्धिगम्य नहीं मानता, तथापि वह ईश्वर के अस्तित्व के पक्ष में सुदृढ़ आधार प्रस्तुत करता है। काण्ट का यह आधार उस नैतिक नियमों पर आश्रित है जो उसके अनुसार गणित शास्त्रीय नियमों की भॉति पूर्ण एवं शाश्वत सत्य है। काण्ट का कहना है कि नैतिक कर्तव्यों की भावना मानव अन्तःकरण में जन्म से ही इतनी सुदृढ़ होती है कि इसे सिद्ध करने के लिए तर्क अथवा बुद्धि का आश्रय लेने की आवश्यकता नहीं है। सभी व्यक्तियों को इस नैतिक भावना का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। नैतिक भावना सदैव सद्कर्तव्य और सत्कार्य को प्रेरित करती है। नैतिक भावना का मानव अन्तःकरण के लिए आदेश, निरपेक्ष या परम ;।ईसनजमद्ध होता है। मनुष्य नैतिक भावनाओं का पालन इसलिए करता है कि ये उसके अन्तःकरण की आवाजें होती है। नैतिक भावना का आदेश

सब परिस्थितियों में समान होता है। काण्ट के अनुसार, ''हृदय मस्तिष्क से ऊँचा है और वहीं मनुष्य का सच्चा मार्गदर्शक है।'' काण्ट के अनुसार नैतिकता मनुष्य की पूर्णता का मापदण्ड है, नैतिकता से पृथक राजनीति सर्वथा मूल्यहीन रहती है, जबकि नैतिक आदेशों के आधार पर ही राजनीति का अध्ययन पूर्णतया उपयोगी एवं सार्थक होता है।

मानव प्रकृति के संबंध में काण्ट के यही विचार मानव गरिमा के सिद्धान्त का आधार है। इसके अनुसार प्रत्येक मनुष्य केवल मनुष्य होने के नाते विशेष सम्मान का पात्र है, और किसी भी सांसारिक वस्तु के मूल्य (Value) से उसकी तुलना नहीं की जा सकती। प्रत्येक मनुष्य केवल मनुष्य होने के नाते अपने-आप में साध्य है, वह किसी अन्य साध्य का साधन नहीं हो सकता। प्रत्येक मनुष्य को इस दृष्टि से देखने की सद्इच्छा एक निरपेक्ष आदेश है, अर्थात यह एक ऐसा नियम है जिसके साथ कोई शर्त नहीं जोड़ी जा सकती।

अभ्यास प्रश्नः-

प्र0.1. काण्ट के नैतिक इच्छा एवं नैतिक स्वतन्त्रता को स्पष्ट कीजिए।

प्र0.2 काण्ट के नैतिक स्वतन्त्रता का व्यक्तिवादी दृष्टिकोण बताइये।

प्र0.3. मानव गरिमा और व्यवहारिक विवेकपर काण्ट के विचारों का उल्लेख कीजिए।

प्र0.4. आदर्शवाद क्या हैं?

वस्तुनिष्ठ प्रश्नः-

प्र02. राज्य एक नैतिक संस्था है। यह कथन किसका है?

(क) उदारवादी (ख) आदर्शवादी

(ग) व्यक्तिवादी (घ) मार्क्सवादी

प्र02. निम्न में से कौन सा आदर्शवादी विचारक है?

(क) हरबर्ट स्पेंसर (ख) बेंथम

(ग) इमैनुएल काण्ट (घ) कार्ल मार्क्स

प्र03. ''हृदय मस्तिष्क से ऊँचा है और वही मनुष्य का सच्चा मार्गदर्शक है।'' यह कथन किसका है?

(क) रूसों (ख) हीगल

(ग) काण्ट(घ) मिल

21.4 राजनीति का स्वरूपः-

राजनीति के स्वरूप के बारें में काण्ट की अवधारणा उसकी नैतिक मान्यताओं के साथ जुड़ी है। उसने नैतिकता को सर्वोपरि स्थान देते हुए यह विचार प्रकट किया है कि राजनीति को नैतिकता के सामने सदैव नतमस्तक रहना चाहिए। सच्ची राजनीति को नैतिकता के सामने सदैव नतमस्तक रहना चाहिए। सच्ची राजनीति तब तक एक कदम भी आगे नहीं बढ़ा सकती जब तक वह नैतिक आदर्शों को प्रणाम न कर लें। काण्ट के अनुसार नैतिकता की प्रेरणा 'सद-इच्छा, से आती है, परन्तु राजनीति केवल कानूनी संस्थाओं का पुनर्निर्माण कर सकती है। यदि राजनीति को नैतिकता से जोड़ दिया जाए तो वह युद्ध पर प्रतिबन्ध लगाकर, शाश्वत शान्ति और मानव-अधिकारों पर बल देकर सार्वजनिक कानूनी न्याय को बढ़ावा दे सकती है।

काण्ट के अनुसार, अधिकार और नैतिक स्वाधीनता दो पर्यायवाची शब्द है। उसके ही शब्दों में, ''मानवता के नाते जो एकमात्र मौलिक अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त है, वह है स्वाधीनता''। काण्ट के अनुसार, ''स्वाधीनता का अर्थ है ऐसा कोई भी कार्य करने का अधिकार जिससे पड़ोसी को किसी भी प्रकार की हानि नहीं पहुंचे । इस तरह काण्ट अधिकारों को उसके अनुरूप कर्तव्यों से संयुक्त मानताहैं अधिकारों और कर्तव्यों के बिना एक सुव्यवस्थित राज्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती। अधिकार व्यक्ति के विकास का एक साधन है और मूल अधिकार स्वतन्त्रता है। अधिकारों की अपेक्षा कर्तव्य अधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि व्यक्ति यदि अपने कर्तव्यों का पालन करेंगे, तो अधिकार स्वतः ही प्राप्त हो जायेंगे। अधिकार और कर्तव्य एक ही सिक्के के दो पहलू हैं । कर्तव्य उसकी आन्तरिक चेतना के फलस्वरूप अपने आप मनुष्य पर लागू होता है। काण्ट ने व्यक्ति के कर्तव्यों को तीन भागों में विभाजित किया है-स्वयं के प्रति कर्तव्य, अन्य नागरिकों के प्रति कर्तव्य एवं राज्य के प्रति कर्तव्य।

काण्ट ने व्यक्ति को कर्तव्यों के साथ अधिकार प्रदान नहीं किए है। केवल स्वतन्त्रता के स्वाभाविक अधिकार के अलावा उसने व्यक्ति को शासन के प्रति विद्रोह करने का अधिकार नहीं दिया है, चाहे शासन तंत्र कितना ही अत्याचारी क्यों नहीं हो? विधान में परिवर्तन का एकमात्र अधिकार शासक को है। जनता को नहीं। वह जनक्रान्ति द्वारा विधान परिवर्तन के प्रयास को वांछनीय नहीं मानता। व्यक्ति को राज्य का दास नहीं बनाने का विचार करके और व्यक्ति के स्वशासन पर बल देकर एक ओर उसने स्वंय को व्यक्तिवादियों की श्रेणी में ला खड़ा किया है और दूसरी ओर राज्य को सर्वशक्तिमान भी बना दिया है। हाब्स एवं रूसों के इस विचार से सहमत है कि राज्य का निर्माण करते समय मनुष्यों ने समस्त अधिकार राज्य को समर्पित कर दिये थे, जिससे राज्य के अधिकार निरपेक्ष एवं निरंकुश बन गए थे। अपने ग्रन्थ 'Philosophy of Law' में काण्ट ने लिखा है कि, ''जनता की इच्छा स्वाभाविक रूप से अनेकीकृत होती है, अतः परिणामस्वरूप यह कानून सम्मत नहीं होती।'' काण्ट के अनुसार नैतिक उद्देश्य की सिद्धि के लिए राज्य परमावश्यक हैं, और इसलिए उसके विरूद्ध क्रान्ति का कोई अधिकार मान्य नहीं हो सकता। राज्य के आदेशों का पालन करना ही उचित है, क्योंकि ऐसा करने में व्यक्ति किन्हीं दूसरे आदेशों का पालन नहीं कर अपनी स्वेच्छा का ही पालन करते है।

राज्य को सर्वशक्तिमान एवं अपरिहार्य बतलाते हुए और राज्य के विरूद्ध क्रान्ति के अधिकार का निषेध करते हुए भी काण्ट राज्य का कार्य-क्षेत्र बहुत असीमित नहीं करता। अपने विचारों में कुछ व्यक्तिवादी होने के कारण वह राज्य को अधिक कार्य सौपना नहीं चाहता। उसके अनुसार राज्य का कार्यक्षेत्र बहुत संकुचित तथा निषेधात्मक है। राज्य प्रत्यक्ष रूप से ''नैतिक स्वाधीनता के विकास तथा प्रसार'' के लिए कुछ नहीं कर सकता। यह काम तो व्यक्तियों को स्वयं ही करना होगा। राज्य का कर्तव्य तो इतना ही है कि वह व्यक्ति की स्वाधीनता के मार्ग की बाधाओं पर रोक लगाये तथा ऐसी वाह्य सामाजिक परिस्थितियों की स्थापना करें, जिससे नैतिक विकास सम्भव हो सकें।

शासन तंत्र के विवेचन में मॉण्टेस्क्यू का अनुसरण करते हुए काण्ट ने शासन कार्यों को तीन भागों में विभक्त किया है-विधायी, कार्यकारी एवं न्यायिका व्यक्ति की नैतिक स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए यह बहुत आवश्यक है कि कार्यपालिका और न्यायपालिका विभाग एक-दूसरे से पृथक और स्वतन्त्र रहें। लॉक और माण्टेस्क्यू की भॉति काण्ट भी शक्ति - विभाजन के सिद्धान्त में विश्वास करता था। कार्यपालिका को व्यवस्थापिका के अधीन रखने का समर्थक था। व्यवस्थापिका और न्यायपालिका को वह तीनों में कोई भी एक-दूसरे की शक्ति नहीं हड़प सकता। काण्ट ने राज्य तीन प्रकार के बतलाए है- राजतन्त्र (Autocracy), कुलीनतंत्र(Aristocracy) , प्रजातन्त्र (Democracy)इसी प्रकार वह सरकार को भी दो भागों में विभाजित करता है- ;i. गणतन्त्रात्मक (Republican)और ii. निरंकुश (Despotic)

काण्ट के अनुसार शासनतन्त्र का चाहे कोई भी स्वरूप हों, उसके द्वारा जनता की इच्छाओं का प्रतिनिधित्व किया जाना चाहिए। जनता की इच्छाओं का प्रतिनिधित्व राजा, सामन्त या प्रजा के प्रतिनिधि कोई भी कर सकते है। काण्ट को सरकार के स्वरूप से कोई सरोकार नहीं था। उसके अनुसार सरकार को राज्य में नैतिक स्वतन्त्रता प्रदान करे। काण्ट ने प्रतिनिधात्मक सरकार का समर्थन करते हुए राजा को भी जनता का प्रतिनिधि माना है। इससे उसके राजतंत्रवादी होने का आभास मिलता है।

8.4.1 नैतिक प्रेरणा और कानूनी प्रेरणा में अंतरः-

नैतिक प्रेरणा (Moral Motive) और कानूनी प्रेरणा (Legal Motive) में अन्तर करते हुए काण्ट ने यह संकेत दिया है कि नैतिक प्रेरणा 'सद्-इच्छा' और नैतिक नियमों के प्रति सम्मान की भावना से जन्म लेती है जबकि कानूनी प्रेरणा केवल विवशता की अनुभूति को व्यक्त करती हैं चूंकि राजनीति का सरोकार कानूनी प्रेरणा से है, इसलिए वह अपने-आप में 'सद-इच्छा' की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती।

काण्ट ने लिखा है कि 'साध्य लोक (Kingdom of Ends) की संकल्पना सार्वजनिक कानूनी न्याय और नैतिकता के बीच सेतु का निर्माण कर सकती है, क्योंकि सार्वजनिक कानूनी न्याय भी उन साध्यों का समर्थन करता है जो नैतिक भावना के अनुरूप हों। इसी तरह 'साध्य लोक की संकल्पना कला कौशल (Arts) और नैतिकता के बीच भी सेतु का निर्माण कर सकती है। ऐसी हालत में कला कौशल उसी उद्देश्य को समर्पित होंगे जो नैतिक भावना को व्यक्त करता है।

यदि सब व्यक्ति 'सद-इच्छा' से प्रेरित होते तो वे सब व्यक्तियों को अपने-आप में साध्य के रूप में देखते। पर चूंकि मनुष्य के स्वभाव में 'असद' (Evil) की ओर झुकाव भी देखा जाता है, इसलिए नैतिक साध्य की सिद्धि के लिए कानूनी सहारा लेना जरूरी हो जाता है।

सर्वशक्तिमान या प्रभुसत्ताधारी शासक मनुष्य को अपने स्वार्थ की पूर्ति का साधन मानकर 'मनुष्य के अधिकारों' का हनन करते हैं। इसका सबसे प्रमुख उदाहरण युद्ध है जो अनैतिक उद्देश्य की पूर्ति का साधन मात्र है। नैतिकता से प्रेरित राजनीति युद्ध की संभावना को समाप्त करने के उद्देश्य से गणतंत्रवाद का समर्थन करती है। ताकि लोग किसी शासक की प्रजा के स्तर से ऊँचे उठकर नागरिकों का दर्जा प्राप्त कर लें। संक्षेप में, काण्ट के अनुसार राजनीति को कानून के माध्यम से नैतिक साध्यों भी सिद्धि का साधन बनना चाहिए।

8.4.2 क्रान्ति पर काण्ट के विचारः-

काण्ट ने व्यक्ति को कर्तव्यों के अधिकार प्रदान नहीं किए है। केवल स्वतन्त्रता के स्वाभाविक अधिकार के अलावा उसने व्यक्ति को शासन के प्रति विद्रोह करने का अधिकार नहीं दिया है, चाहे शासन तंत्र कितना ही अत्याचारी क्यों नहीं हो? विधान में परिवर्तन का एकमात्र अधिकार शासक को है। जनता को नहीं। वह जनक्रान्ति द्वारा विधान परिवर्तन के प्रयास को वांछनीय नहीं मानता। काण्ट को क्रान्ति से घृणा थी। अतः ''उसने एक ऐसी परिवर्तनशीलता का उपदेश दिया जिसे बर्क भी घृणा की दृष्टि से देखता था।'' नैतिक विकास के लिए राज्य की अनिवार्यता होने के कारण उसके प्रति विद्रोह को यह 'धर्मशास्त्र पर आधारित पवित्र कार्य के प्रति विश्वासघात के समान समझता था जिसके लिए इहलोक तथा परलोक दोनों में क्षमा नहीं मिल सकती। यहाँ काण्ट जर्मन आदर्शवादियों का अनुसरण करते हुए कहता है कि ''यदि विधान में कोई परिवर्तन होना है तो वह केवल शासन द्वारा ही हो सकता है, जन-क्रान्तियों द्वारा नहीं।'' वास्तव में यह आश्चर्यजनक बात है कि फ्रांसीसी राज्य क्रान्ति का उग्र समर्थक काण्ट जनता द्वारा विद्रोह के अधिकार का इतना तीव्र विरोध करता था। प्रो0 डनिंग के अनुसार, जर्मनी की तत्कालीन परिस्थितियों, उपद्रवों एवं अव्यवस्था के प्रति घृणा ने उसे क्रान्ति विरोधी बना दिया।

8.4.3 काण्ट के दर्शन का मूल्यांकनः-

आलोचक काण्ट के आदर्श को काल्पनिक तथा अव्यवहारिक मानते हे। केवल काल्पनिक अधिकारों और कर्तव्यों का जीवन में कोई विशेष महत्व नहीं है। उनसे समाज का कोई विकास नहीं होता। काण्ट इस बारें में कोई निश्चय नहीं कर सका कि साधारण रूप से व्यक्ति को स्वतन्त्रता प्रदान की जाय। काण्ट के विचारों में व्यक्तिवाद ओर आदर्शवाद दोनों का ही पुट है, अतः उसके चिंतन में अनेक विरोधाभास एवं विसंगतियां है। उदाहरणार्थ, ''स्वाधीनता' की परिभाषा करते समय कभी वह उच्चतर व्यक्तियों के नैतिक विकास के लिए आवश्यक व्यक्तिवादी विचारधारा से प्रभावित होता है तो कभी उसे 'परिस्थितिया, कहने लगता है। इसी तरह एक ओर तो वह जनता की संप्रभुता पर विशेष बल देता है और दूसरी ओर ऐसे शासक को उचित मानता है कि जिस पर किसी भी प्रकार का वैधानिक नियंत्रण न हो। सम्पत्ति, दण्ड, राज्य का कार्य-क्षेत्र आदि सभी विषयों पर उसके विचार परस्पर टकराते हे। वाहन ने ठीक लिखा है कि ''काण्ट इसलिए असफल हुआ क्योंकि वह राज्य सम्बन्धी दो पृथक धारणाओं के बीच चक्कर काटता रहा''। राज्य को एक नैतिक संस्था समझते हुए काण्ट का दृष्टिकोण उसके प्रति ईर्ष्यापूर्ण ही रहा। वह राज्य के सावयवी रूप पर पूरी तरह स्थिर नहीं हो सका।

काण्ट के शासन संबंधी विचारों में कोई नवीनता नहीं है। उसकी सामान्य और शुभ इच्छा का वर्णन भी भ्रमपूर्ण है। विशेष रूप से उसका यह कहना है कि सामान्य इच्छा एक स्थान पर केन्द्रित हो सकती है, गलत है। काण्ट अनुबन्ध की कल्पना को स्पष्ट करने में भी असफल रहा। आलोचकों के अनुसार काण्ट के दर्शन में अव्यावहारिकता है जो उसे यथार्थ से दूर कर देती है। अन्य जर्मन दार्शनिकों की भांति काण्ट भी राज्य को एक ऐसी संस्था मानता है जिससे जन-भावना मूर्त होती है। आगे चलकर हीगल आदि के दर्शन में राज्य की यह परिभाषा उसे सर्वशक्तिमान बना देती है। अतः यह एक घातक परिभाषा है। जो आदर्शवादी विचारधारा यूरोप में फैली वह व्यक्तिवादी दर्शन की प्रतिक्रिया थी, लेकिन 'सामूहिक जीवन' का अनुभव होने तथा स्वतन्त्रता पर बहुत अधिक जोर दिये जाने के कारण काण्ट का दर्शन व्यक्तिवाद की तरह ही झुक गया था। काण्ट जैसे तार्किक विचारक के दर्शन में कुछ दुर्बलताओं का होना स्वाभाविक ही था, क्योंकि जिस युग का वह प्रतिनिधित्व करता है वह राजनीति के युग में एक संक्रान्ति काल था। रसेल (Russell) जैसे विचारक काण्ट के उदय को चाहे 'एक दुर्भाग्य' माने, किन्तु राजनीति का गंभीर विद्यार्थी यह जानता है कि वह आदर्शवाद का एक सच्चा संस्थापक था। काण्ट के विचार मौलिक नहीं थे, परन्तु उसने जो कुछ भी किया उसके कारण उसका दर्शन में महत्वपूर्ण स्थान है। डॉ0 क्लिंक

(Klinke)का मत है कि ''काण्ट ने एक नए दर्शनशास्त्र का प्रारम्भ किया। दर्शन के इतिहास में उनकी दार्शनिक रचनाओं ने मील का पत्थर रखा। वह उन महान एवं गंभीर विचारकों में से था जिन्होंने न केवल अपनी रचनाओं से ही बल्कि अपने जीवन से भी समकालीन बुद्धिजीवियों और भावी पीढ़ियों को प्रभावित किया। उसकी विशुद्ध बुद्धि मीमांसा दर्शन-शास्त्र के क्षेत्र में एक महान देन है। काण्ट के दार्शनिक और नैतिक विचारों का बहुत व्यापक प्रभाव पड़ा। अनुभववाद और संशयवाद का निराकरण करके उसने समीक्षावाद की पुष्टि की। दृश्य जगत और वस्तु-तत्व में जिस द्वैत की काण्ट ने कल्पना की थी, उसका परिहास कर हीगल ने विज्ञानवादी अद्वैतवाद का खण्डन किया। काण्ट द्वारा प्रतिपादित विश्लेषण और संश्लेषण में पार्थक्य (Separation) का फिक्टे (Fichte) की दर्शन पद्धति पर भी प्रभाव पड़ा।

शापनहोवर के संकल्पवाद और लाट्स के प्रयोजनमूलक विज्ञानवाद पर भी काण्ट के विचारों का प्रभाव है। फ्रीस जॉर्ज सिमेल भी कुछ मनोवैज्ञानिक निष्कर्षों के लिए काण्ट का ऋणी है। सीमित अर्थ में यद्यपि काण्ट राजनीतिशास्त्री नहीं था, तथापि उसके व्यापक दार्शनिक सिद्धान्तों का यूरोपीय सामाजिक विज्ञान पर गहरा प्रभाव पड़ा।

काण्ट ने ही सर्वप्रथम व्यक्तिवादी विचारधारा प्रसारित कर नैतिकवाद का विरोध किया और भौतिक शक्ति की अपेक्षा आध्यात्मिक शक्ति को अधिक महत्वपूर्ण बतलाया। उसने विवेकको अनुभूति से उच्च बतलाया और विशुद्ध विवेकको सत्य और असत्य अनुभूतियों को पहचानने का साधन माना। काण्ट ने सार्वभौमिक नैतिक विधि एवं स्वतन्त्रता की कल्पना की। आधुनिक युग का वही पहला विचारक था जिसने विश्व-राज्य की कल्पना की। काण्ट के राजनीति विचारों के कारण जर्मनी में उदारवादी विचारों की उन्नति हुई, सामन्तवाद को आघात पहुँचा और राष्ट्रीय एकता की भावना को प्रोत्साहन मिला। राइट के अनुसार, ''1781 ई0 से अब तक प्रत्येक महत्वपूर्ण दार्शनिक किसी न किसी प्रकार स्वीकारात्मक रूप से अथवा नकारात्मक रूप से, जाने-अनजाने काण्ट और उसके उत्तराधिकारियों के ऋणी रहे है।''

अभ्यास प्रश्नः-

प्र0.1. काण्ट के राजनीतिक विचार क्या थे?

प्र0.2. काण्ट के अनुसार नैतिक प्रेरणा ओर कानूनी प्रेरणा में क्या अन्तर है?

प्र0.3. क्रान्ति पर काण्ट के विचारों को स्पष्ट कीजिए।

प्र0.4. काण्ट के व्यक्तिवादी दृष्टिकोण बताइये।

वस्तुनिष्ठ प्रश्नः-

प्र01. काण्ट के अनुसार एकमात्र मौलिक अधिकार क्या है?

(क) संपत्ति का अधिकार (ख) स्वाधीनता का अधिकार

(ग) समानता का अधिकार (घ) जीवन का अधिकार

प्र02. किसने इस बात पर बल दिया है कि राज्य सर्वोच्च नैतिकता का प्रतिनिधित्व करता है?

(क) बोदां (ख) काण्ट

(ग) हॉब्स (घ) बर्क

प्र03. ''अहम इसके लक्ष्यों से पूर्व है'' और ''अधिकार हित से पूर्व है'' सिद्धान्तों का समर्थन किया था-

(क) इमैनुअल काण्ट (ख) एफ. डब्ल्यू. जी0 हेगल

(ग) चार्ल्स टेलर (घ) माइकल वॉल्जर

8.5 सारांशः-इस ईकाई को पढ़ने के बाद- आदर्शवाद का उदय एवं महत्व को समझ गये होंगे। इमैनुएल काण्ट का जीवन परिचय भी भलीभॉति जान गये होंगे।काण्ट के नैतिक स्वतन्त्रता की संकल्पना एवं व्यक्तिवादी दृष्टिकोण भी समझ गये होंगे। काण्ट के व्यावहारिक विवेकएवं मानव गरिमा के महत्व को जान गये होंगे। काण्ट के अनुसार राजनीति का स्वरूप क्या है, समझ गये होगें। काण्ट के अनुसार नैतिक प्रेरणा एवं कानूनी प्रेरणा में अंतर को जान गये होंगे। क्रान्ति पर काण्ट के विचारों को भली भॉति समझ गये होंगे। काण्ट के दर्शन का आलोचनात्मक मूल्यांकन समझ गये होंगे।

8.6. शब्दावली

निरपवाद नैतिक कर्तव्यादेशः	-	Categorical Imperative of Duty
शुद्ध बुद्धि की मीमांसा	-	Critique of Pure Reason
अनुभववाद	-	Impericism
आदर्शवाद	-	Idealism
भौतिकवाद	-	Materialism
बुद्धिवाद	-	Rationalism
भावप्रवणतावाद	-	Emotionalism
स्वतन्त्र इच्छा	-	Free will
स्वआरोपित आदेशात्मक कर्तव्य	-	A Self Imposed Imperative Duty
आधारहीन धारणा	-	Concept Within Content
संक्रान्ति काल	-	Transitional Stage

8.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

21.3 के उत्तर, प्र01. (ख), प्र02. (ग),प्र03. (ग)

21.4 के उत्तर :प्र01. (ख), प्र02. (ख), प्र03. (क)

8.8 सन्दर्भ ग्रन्थः-

1. शर्मा, डॉ0 पी0डी0-आधुनिक राजदर्शन, कॉ-ऑपरेशन पब्लिकेशन्स, जयपुर, 2014

2. गाबा, ओम प्रकाश - राजनीति-चिंतन की रूपरेखा, मयूर पेपरबैक्स, नोयडा, 2006

3. गर्ग, सुषमा - पाश्चात्य राजनीतिक विचारक, अग्रवाल पब्लिकेशन्स, आगरा, 2014

4. जैन, पुखराज, जीवन मेहता- राजनीति विज्ञान, एस0 बी0पी0डी0 पब्लिकेशन्स आगरा,

5. काण्ट इमैनुएल- द क्रिटिक ऑफ प्रैक्टिकल रीजन, शिकागों यूनिवर्सिटी प्रेस, 1949

8.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री:-

1. सेबाइन, राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड-2

2. शर्मा, डॉ0 प्रभुदत्त (सम्पादित एवं अनुवादक) - अभिनव राजनीतिक चिन्तन, साहित्यागार, जयपुर, 2013

3. Dunning- History of Polical Theories, Vol III

4. Barker- Political Thought in England

8.10 **निबन्धात्मक प्रश्न**

प्र01.'इमैनुअल काण्ट' के नैतिक स्वतन्त्रता की संकल्पना का वर्णन करें।

प्र02. काण्ट की क्रान्ति पर विचारों का वर्णन करे।

प्र03. काण्ट के दर्शन का आलोचनात्मक मूल्यांकन करें।

प्र04. काण्ट के अनुसार राजनीति का स्वरूप क्या है। विवेचना करें।

इकाई 9. जार्ज विल्हेल्म फ्रेडरिक हीगल

इकाइयों की रूपरेखा

9.1 प्रस्तावना

9.2 उद्देश्य

9.3 हीगल का इतिहास दर्शन

9.3.1. हीगल का राष्ट्र-राज्य का सिद्धान्त

9.3.2 हीगल का अलगाव की संकल्पना

9.4 परिवार, नागरिक समाज और राज्य की संकल्पना

9.4.1 स्वतंत्रता की संकल्पना

9.4.2 हीगल का मूल्यांकन

9.5 सारांश

9.6 शब्दावली

9.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

9.8 संदर्भ ग्रन्थ

9.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

9.10 निबन्धात्मक प्रश्न

9.1 प्रस्तावना-

जार्ज विल्हेल्म फ्रैड्रिक हीगल उन्नीसवी शताब्दी के पूर्वार्ध का प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक था। हीगल का जन्म जर्मनी के एक नगर स्टुटगर्त में सन् 1770 में हुआ था। उसे जर्मन आर्दशवाद के सिद्धान्तों के विकास को चरम शिखर तक पहुँचाने तथा राज्य की सर्वोच्च सत्ता का शक्तिशाली ढंग से प्रतिपादित करने का श्रेय प्राप्त है। अपने अध्ययन काल में उस पर यूनानी दार्शनिक के विचारों का गहरा प्रभाव पड़ा। उसका कहना था कि ''यूनान का नाम सुनते ही सुसंस्कृत जर्मन प्रफुल्लित हो उठता है। यूरोपियन संस्कृति में धर्म के अतिरिक्त विज्ञान का कला का तथा जीवन को उन्नत बनाने वाली आय सभी कलाओं का आदि स्रोत यूनान है।'' जब वह विद्यार्थी था, तभी फ्रांस में राज्य क्रान्ति हुई और उससे भी वह बहुत प्रभावित हुआ। उसने उसे 'शानदार बौद्धिक उषाकाल' की संज्ञा दी। मानव इतिहास में पहली बार उसने सार्वभौमिक दार्शनिकता की उपयुक्त व्याख्या की। हीगल ने प्रत्येक विषय को तर्क के आधार पर समझाने का प्रयास किया। उसके दर्शन का महत्व दो ही बातों पर निर्भर करता है। द्वन्द्वात्मक पद्धति एवं राज्य का आदर्शीकरण। 1831 में इस महान दार्शनिक का आकस्मिक निधन हो गया।

9.2 उद्देश्य -

प्रस्तुत इकाई केअध्ययन के उपरांत आप -

1. हीगल के इतिहास दर्शन तथा द्वन्द्वात्मक पद्धति को समझ सकेगे।
2. हीगल के राष्ट्र-राज्य के सिद्धान्त को जान सकेगे।
3. हीगल के अलगाव की संकल्पना को जान सकेगे।
4. हीगल के परिवार, नागरिक समाज और राज्य की संकल्पना को समझ सकेगे।
5. हीगल के दास प्रथा पर विचार को जान सकेगे।

हीगल की रचनाएं -

1. Philosophy of law
2. Philosophy of History
3. Science of Logic
4. The phenomenology of spirit
5. Encyclopedia of Phiolosophical Sciences
6. Constitution of Germany

6. हीगल के स्वतंत्रता की संकल्पना समझ सकेगे।

9.3 हीगल का इतिहास-दर्शन - हीगल का विश्वास था कि इतिहास एक निरन्तर विकास की प्रक्रिया है, जिसकी मूल प्रेरणा विवेक (Reason) या चेतना (Spirit) है। इस प्रक्रिया के द्वारा चेतना अपने परम लक्ष्य, अर्थात परम चैतन्य (Absolute consciousness) अथवा परम सत्य (Absolute Truth) की ओर अग्रसर होती है। यह प्रक्रिया अपने अंतर्निहित नियमों से बॅधी है। जिसे बाहर से नियंत्रित या परिवर्तित नहीं किया जा सकता । इस मान्यता के आधार पर हीगल ने व्यक्तिवाद के दार्शनिक आधार पर प्रहार किया जो इस मान्यता पर आधारित था कि मनुष्य अपने चंचल चित्त की इच्छा के अनुसार समाज को मनचाहे रूप में ढाल सकते है। हीगल के अनुसार केवल तर्क बुद्धि या विवेक से ही इतिहास को संचालित करने वाली यर्थाथ शक्तियों का पता लगा सकते है और इस प्रक्रिया की अनिवार्यता को समझ सकते है। हीगल मानता है कि यह विश्व एक स्थायी वस्तु (Static) न होकर गतिशील (Dynamic) क्रिया है, अतः उसका अध्ययन सदैव एक विकासवादी (Evolutionary) दृष्टिकोण से किया जाना चाहिए। विश्व के समस्त पदार्थो का विकास अविकसित तथा एकतापूर्ण स्थिति की ओर होता है जिसके कारण विरोधी वस्तुओं ने उच्च कोटि की वस्तुओं में विकसित होकर पूर्णता प्राप्त कर ली है। इस प्रक्रिया में वस्तुओं की निम्नता नष्ट होकर उच्चता ग्रहण कर लेती है। विकसित होने के बाद कोई भी वस्तु वह नहीं रहती जो पहले थी, वह कुछ उन्नत हो जाती है। इस विकासवादी क्रिया को हीगल ने 'द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया' (Dialectic Process) का नाम दिया है। 'द्वन्द्ववाद' शब्द की उत्पत्ति यूनानी भाषा के शब्द 'Dialego'से हुई है जिसका अर्थ है वाद-विवाद करना। इसमें सत्य तक पहुँचने के लिये तर्क-विर्तक प्रणाली (Dialectic) को अपनाया था। उसके अनुसार समस्त द्वन्द्वात्मक प्रणाली इस प्रकार है - ''सर्वप्रथम प्रत्येक वस्तु का एक मौलिक रूप होता है। विकासवाद के अनुसार यह बढ़ती है और इसका विकसित रूप कालान्तर में इससे मौलिक रूप में बिल्कुल विपरीत हो जाता है जिसे विपरीत रूप (Antithesis) कहते है। कालान्तर में विकासवादी सिद्धान्त के अनुसार ये मौलिक रूप तथा विपरीत रूप आपस में मिलते है और इन दोनो के मेल से वस्तु का नया सामंजस्य (Synthesis) स्थापित होता है। यह सामंजस्यपूर्ण रूप कुछ दिनों में फिर मौलिक रूप बन जाता है और वही क्रिया आवृत होने लगती है।

हीगल के अनुसार प्रत्यय या विचार-तत्व (Idea) सृष्टि का सार-तत्व है। अतः विकास की संपूर्ण प्रक्रिया शुरू से अन्त तक प्रत्ययों या विचारों के उत्थान पतन की कहानी है जिनका मूर्त रूप सामाजिक संस्थाओं के उदय और अस्त में देखने को मिलता है। हीगल का विचार है कि सारा सामाजिक परिवर्तन और विकास परस्पर - विरोधी तत्वों या विचारो कंे संघर्ष का परिणाम है। इस पद्धति को द्वन्द्वात्मक पद्धति कहा जाता है जो हीगल के प्रत्ययवाद (Idealism) के साथ निकट से जुड़ी है। हीगल के अनुसार परस्पर विराधी विचारों का द्वन्द्व ही संपूर्ण

प्रगति की कुंजी है। इस तरह सामाजिक परिवर्तन या विकास की प्रक्रिया तीन अवस्थाओं से संपन्न होती है और जब तक वह पूर्णत्व (perfection) की स्थिति में नहीं पहुंच पाती तब तक यह प्रक्रिया अपने आपको दोहराती रहती है। ये अवस्थाएं है - पक्ष या वाद (Thesis), प्रतिपक्ष या प्रतिवाद (Antithesis) और संपक्ष या संवाद (Synthesis)। शुरू में 'पक्ष' का अस्तित्व होता है जो पूर्णतः सत्य नहीं होता, चंूकि सत्य का स्वरूप ही स्थायी और स्थिर है, इसलिये 'पक्ष' स्वभावतः अस्थिर होता है। परिणामतः उसका विपरीत रूप 'प्रतिपक्ष' अपने-आप अस्तित्व में आ जाता है। यह 'प्रतिपक्ष' भी पूर्णतः सत्य नहीं हो सकता। चूंकि 'पक्ष' और 'प्रतिपक्ष' परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों के प्रतीक है, इसलिए इनमें तनाव, टकराव पैदा होता है जिसमें वे यथाशक्ति एक दूसरे के उन अंशों को नष्ट कर देते है जो असत्य होते है। इस संधर्ष में वे अंश बच जाते है जो 'पक्ष' और 'प्रतिपक्ष' दोनो की तुलना में सत्य के निकट होते है। इनके संयोग से संपक्ष का जन्म होता है। इस तरह परिवर्तन का एक चक्र पूरा होता है। पक्ष और प्रतिपक्ष दोनो की तुलना में संपक्ष सत्य के निकट होता है। परन्तु वह भी पूर्णतः सत्य नहीं होता, इसलिये वह अस्थिर सिद्ध होता है। दूसरे शब्दों में 'संपक्ष' स्वयं नये 'पक्ष' का रूप धारण कर लेता है और फिर क्रमशः नए 'प्रतिपक्ष' और 'संपक्ष' का आविर्भाव होता है। यह प्रक्रिया जब तक चलती है कि समाज 'परम चैतन्य' की स्थिति में स्थिर नहीं हो जाता है।

हीगल ने राष्ट्र-राज्य को विशेषतः पश्चिमी यूरोप के तत्कालीन राज्य को 'परम चैतन्य' का प्रतिरूप मानते हुए उसे मानव-इतिहास की चरम परिणति स्वीकार किया है। हीगल की ऐतिहासिक व्याख्या के अनुसार राष्ट्र ही इतिहास की सार्थक इकाई है।

व्यक्ति या उनके कोई अन्य समूह नही। दर्शन का ध्येय द्वन्द्वात्मक पद्धति के माध्यम से यह स्पष्ट करना है कि एक उदीयमान विश्व सभ्यता के घटक के रूप में प्रत्येक राष्ट्र क्या-क्या भूमिका निभाता है? राष्ट्र की प्रतिभा या चेतना व्यक्तियों के माध्यम से कार्य तो करती है, परन्तु वह उनकी इच्छा या प्रयोजन से नहीं बँधी होती है। राष्ट्र की यही चेतना, कला, कानून, नैतिक आदर्शो और धर्म का सृजन करती है। अतः सभ्यता का इतिहास राष्ट्रीय संस्कृतियों की श्रृंखला है जिसमें प्रत्येक राष्ट्र संपूर्ण मानवीय उपलब्धि में अपना-अपना विलक्षण और समयोचित योगदान प्रस्तुत करता है। केवल पश्चिमी यूरोप के आधुनिक इतिहास में ही राष्ट्र की सहज सृजनात्मक प्रेरणा आत्मचेतना और विवेकसम्मत अभिव्यक्ति की स्थिति में पहुँची है। अतः राज्य (State) राष्ट्रीय विकास की चरम परिणति है। हीगल के शब्दों में, ''राज्य पृथ्वी पर ईश्वर की शोभा यात्रा है'' (The state is the March of God on Earth) हीगल ने राष्ट्र-राज्य को द्वन्द्वात्मक तर्क पद्धति का परिणाम माना है, हालांकि इन दोनो में कोई तर्कसंगत संबंध नहीं है।

सेबाइन के अनुसार, '' हीगल ने राष्ट्रीय राज्य को बहुत महत्व नहीं दिया है। उसने इतिहास की जो व्याख्या की उसमें मुख्य ईकाई व्यक्ति अथवा व्यक्तियों का कोई समुदाय नहीं होकर राज्य था। हीगल के दर्शन का उद्देश्य द्वन्द्वात्मक पद्धति के माध्यम से विश्व-सभ्यता के विकास में प्रत्येक राज्य की देन का मूल्यांकन प्रस्तुत करना था।''

हीगल ने द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त का प्रयोग समाज और सामाजिक संस्थाओं के विकास में भी किया। कुटुम्ब को सामाजिक विकास का प्रारंभिक रूप मानकर उसने राज्य को सामाजिक विकास का सर्वोच्च रूप बतलाया। उसने कहा कि जब कुटुम्ब विस्तृत होता है, तो वह विकास क्रम में आगे बढ़ता है। कुटुम्ब के सभी सदस्यों में यह भावना विद्यमान रहती है कि 'हम सब एक है।' व्यक्ति का नैतिक विकास कुटुम्ब से ही आरम्भ होता है। इस प्रकार की स्थिति वाद है, लेकिन यही वाद आगे-चलकर 'प्रतिवाद' की रचना कर लेता है। कोई भी मुनष्य अपने दृष्टिकोण में एक ही स्थान पर रहकर या कुटुम्ब पर आश्रित होकर प्रगति नहीं कर सकता। केवल अपने ही कुटुम्ब के पोषण

की भावना, जो पहले स्नेह थी, बाद में मोह बन जाती है और तेरे-मेरे का भाव उत्पन्न कर देती है। इस तरह कालान्तर में ऐसे समाज का निर्माण होता है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन के लिये संघर्ष करता है। इस सर्वांगीण संघर्ष में प्रत्येक मनुष्य अपने अनुभवों को व्यापक बनाता है। वह सामाजिक प्रतिवाद का रूप लेता है, लेकिन वाद और प्रतिवाद का समन्वय होना भी अवश्यम्भवी है। समाज में अव्यवस्था, अशांति, अनाचार आदि व्यक्तियों की नैतिकता को अस्त-व्यवस्त कर देते है। विकास का क्रम शांति में ही सम्भव है। शांति में निर्माण होता है और संघर्ष में विनाश, अतः समाज में शांतिमय वातावरण उत्पन्न करने पर राज्य की उत्पत्ति होती है अर्थात राज्य विवेक का परिणाम है। यह राज्य कुटुम्ब और समाज का अर्थात वाद और प्रतिवाद का सामंजस्यपूर्ण रूप अथवा संश्लेषण हुआ। राज्य के अन्दर भी मनुष्य जीवन के लिये संघर्ष करता है, लेकिन यह संघर्ष सृजनात्मक होता है। इससे उसकी शक्तियों का विकास होता है।

हीगल ने जिस द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, उसे शासन के स्वरूप पर भी लागू किया जा सकता है। निरंकुश तंत्र का वाद अपने प्रतिवाद प्रजातंत्र को जन्म देता है निरंकुश तंत्र और प्रजातंत्र के समन्वय से एक सांविधानिक राजतंत्र की उत्पत्ति होती है जो संवाद अथवा संश्लेषण है।

'हीगल' इतिहास को मूलतः रहस्यात्मक अथवा विवेक निरपेक्ष नहीं मानता। उसके विचार से इतिहास में अविवेक का नहीं , बल्कि विश्लेषणात्मक विवेक से ऊँचे विवेक के एक नए रूप का निवास होता है ''वास्तविक ही विवेक-सम्मत है और विवेक-सम्मत ही वास्तविक है।'' इतिहास के संबंध में हीगल की एक विशिष्ट धारणा थी। इतिहास के विकास को वह अस्त-व्यस्त खण्डों का विकास नहीं बल्कि एक सक्रिय विकास मानता था।

द्वन्द्वात्मक पद्धति को ऐतिहासिक विकास की आवश्यकताओं को स्पष्ट करने वाला उपकरण माना जाता था, लेकिन 'आवश्यकता' शब्द उतना ही अस्पष्ट बना रहा जितना कि हयूम ने उसे प्रभावित कर दिया था। हीगल ने इतिहास में जिस आवश्यकता का दर्शन किया था, वह भौतिक विवशता भी थी और नैतिकता भी। जब उसने यह कहा कि जर्मनी को एक राज्य बनाना आवश्यक है, तो उसका तात्पर्य यह था कि उसे ऐसा करना चाहिए। सभ्यता और उसके राष्ट्रीय जीवन के हितों की दृष्टि से यह अपेक्षित है और कुछ ऐसी आकस्मिक शक्तियां भी है, जो उसे इस दिशा में प्रेरित कर रही है, अतः द्वन्द्वात्मक पद्धति में नैतिक निर्णय भी सम्मिलित है और ऐतिहासिक विकास का एक आकस्मिक नियम भी। नैतिक निर्णय आवश्यकता और आकस्मिक नियम का आधार अस्पष्ट है।

सेबाइंब के शब्दों में, ''हीगल की द्वन्द्वात्मक पद्धति में ऐतिहासिक अर्न्तदृष्टि और यर्थाथवाद, नैतिक अपील, स्वच्छन्द आदर्श और धार्मिक रहस्यवाद का पुट था। मन्तव्य की दृष्टि से वह विवेक-सम्मत था और तार्किक पद्धति का विस्तार था, लेकिन इस मन्तव्य को ठीक से व्यक्त नहीं किया जा सकता था। व्यवहार में उसने वास्तविक और आभासी आवश्यक और आकस्मिक, स्थायी और अस्थायी शब्दों केा मनमाने अर्थ में प्रयोग किया । हीगल के ऐतिहासिक निर्णय और नैतिक मूल्यांकन भी देश, काल और पात्र की परिस्थितियों से उतने ही प्रभावित थे जितने अन्य किसी दार्शनिक के होते । द्वन्द्वात्मक पद्धति हीगल के निष्कर्षो को कोई वस्तुपरक आधार नहीं दे सकती थी। इतने विभिन्न तत्वों और प्रयोजनों को एक सॉगोपाँग दार्शनिक पद्धति का रूप देना असम्भव कार्य था। द्वन्द्वात्मक पद्धति की उपलब्धि यह थी कि उसने ऐतिहासिक निर्णयों को एक तार्किक रूप प्रदान किया। यदि ये निर्णय सही हो, तो इन्हे व्यवहारिक लक्ष्य पर आधारित किया जा सकता है। द्वन्द्वात्मक पद्धति में नैतिक निर्णयों को भी तार्किक आधार पर प्रतिष्ठित किया। नैतिक निर्णय नैतिक अन्तर्दृष्टि पर निर्भर होते है, जो हरेक के लिये खुली होती है। इन दोनो को संयुक्त करने की कोशिश में द्वन्द्वात्मक पद्धति किसी अर्थ को स्पष्ट नहीं कर सकी बल्कि इन दोनो के अर्थ को उलझा दिया।''

9.3.1. हीगल का राष्ट्र-राज्य का सिद्धान्त - हीगल राष्ट्र-राज्य (Nation-State) को मानव समाज के राजनीतिक संगठन का अंतिम और परम विकसित रूप मानता है। उसकी यह दृढ़ मान्यता है कि इसके बाद मानव समाज के राजनीतिक रूप का उससे किसी और उच्च अवस्था मे विकास सम्भव नहीं है। काण्ट की तरह से वह न तो अन्तर्राष्ट्रवाद का समर्थक था और न विश्व-शांति की स्थापना हेतु किसी अन्तर्राष्ट्रीय संघ की स्थापना में विश्वास रखता था। अपने पूर्ण रूप में अन्तर्राष्ट्रवाद का विचार उसके लिये एक मूर्खतापूर्ण विचार था। राष्ट्र-राज्य उसके लिये सर्वोच्च है। मानव समाज के राजनीतिक विकास का अंतिम शिखर है। इस राष्ट्र-राज्य के अस्तित्व को बनाये रखने के लिये वह युद्ध को एक अनिवार्य साधन मानता है और उसे अपने हितों के संरक्षण के लिये अपनी इच्छानुसार युद्ध करने का अधिकार प्रदान करता है। अन्तर्राष्ट्रवाद में राज्य को यह युद्ध करने की स्वतंत्रता प्राप्त नहीं हो सकती और इसलिये अन्तर्राष्ट्रवाद और उसके एक सबसे प्रमुख स्तम्भ शांति की भावना का विरोध करता है।

हीगल के शब्दों, '' राज्य स्वयं पूर्ण मस्तिष्क है जो अच्छाई और बुराई, लज्जा और तुच्छता, लम्पटता और धोखेबाजी आदि के भावात्मक नियमों को स्वीकार नही करता।'' हीगल शांतिपूर्ण उपायों और समझौतों को अस्वीकार करता है। हीगल के अनुसार युद्ध के अनेक लाभदायक परिणाम होते है। युद्ध व्यक्ति के अहम का नाश करता है और मानव जाति की पतन से रक्षा कर उसमें क्रियाशीलता का संचार करता है। हीगल के अनुसार, ''एक समय में केवल एक ही जाति में परमात्मा की पूर्ण अभिव्यक्ति हो सकती है। इसलिए युद्ध में किसी राज्य की सफलता दैवीय योजना के व्यंग्य (Irony of Devine Idea) को व्यक्त करती है।'' इसका अर्थ यह है कि विजयी राष्ट्र ईश्वर का कृपापात्र सिद्ध हो जाता है। युद्ध राज्य की शक्ति का द्योतक है। हीगल का विश्वास है कि युद्ध को घोर दुष्कर्म नहीं मानना चाहिए। मानव के विश्व प्रेम की भावना एक निर्जीव अविष्कार है। युद्ध स्वयंमेव एक नैतिक कार्य है।

हीगल अतिराष्ट्रीय होने के कारण किसी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था एवं कानून का समर्थन नहीं करता । अन्तर्राष्ट्रीय कानून परम्परा मात्र है जिन्हे कोई भी प्रभुत्व सम्पन्न राज्य इच्छानुसार स्वीकार अथवा अस्वीकार कर सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इस बात की चिंता करनी चाहिए कि एक राज्य का दूसरे राज्य के साथ नैतिक व्यवहार हो। अपनी सुरक्षा का ध्यान रखना राज्य का सर्वोपरि दायित्व है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में नैतिकता के आधार पर राज्य पर कोई बन्धन नहीं लगाया जा सकता।

हीगल के अनुसार, ''राज्य कोई विशिष्ट व्यक्ति नहीं है वरन् स्वयं में ही पूर्ण स्वतंत्र सम्पूर्णता हैं, अतः राज्यों के पारस्परिक संबंध निजी अथवा नैतिकता मात्र नहीं है। बहुधा ऐसा सोचा जाता है कि राज्य को नैतिकता और निजी अधिकारों के दृष्टिकोण से देखा जाए पर व्यक्तियों की स्थिति कुछ इस प्रकार है कि उनसे सम्बंधित न्यायालय इस बात का निर्णय करता है कि उनके कौन से कार्य यर्थाथ रूप से उचित है। राज्यों के पारस्परिक संबंधों को भी यर्थाथ यरू से ठीक होना चाहिए लेकिन राज्य के संबंध में ऐसी कोई भी शक्ति नही है जो एक तो इस बात का निर्णय कर सके कि यर्थाथ क्सा ठी है दूसरे अपने निर्णय को क्रियान्वित सके। अतः राज्य पूर्ण अधिकार सम्पन्न है। किसी अन्य शक्ति को राज्य पर कोई अधिकार प्राप्त नहीं है। राज्य पारस्परिक संबंधो में पूर्णतः स्वतंत्र है और पारस्परिक निर्णयों को केवल सामयिक और अस्थायी मानते है।''

9.3.2 हीगल का अलगाव की संकल्पना-

हीगल ने एतिहासिक विकास की प्रक्रिया का विश्लेषण करते हुए 'अलगाव' की भूमिका पर भी प्रकाश डाला है, हालांकि आगे चलकर कार्ल मार्क्स ने पूंजीवाद के अमानवीयकारी प्रभाव का संकेत देने के लिये 'अलगाव' की

संकल्पना को नए ढंग से विकसित किया। हीगल ने चेतना (Consciousness or Spirit) को सृष्टि का सार-तत्व मानते हुए यह मान्यता प्रस्तुत की कि चेतना 'अलगाव' की भिन्न-भिन्न अवस्थाएं पार करते हुए उत्तरोत्तर उन्नत रूपों से विकसित होती है जिससे मानव-इतिहास का सृजन होता है। चेतना की इस यात्रा पर व्यक्ति के अपने उदद्श्यों और प्रयोजनों का वश नहीं चलता। 'अलगाव' के बारे में हीगल की संकल्पना इस प्रकार है - शुरू-शुरू में मानव-शिशु अपने-आपको अपनी माता से अलग नहीं कर पाता। कालांतर में वह अपने-आपको एक अलग प्राणी के रूप में पहचानने लगता है। जिसकी अपनी अलग आवश्यकताए और इच्छाएं होती है। इस तरह शैशव से बाल्यकाल में परिवर्तन की प्रक्रिया 'अलगाव' की एक अवस्था है जो मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के अनेक चरणों में से एक है। फिर युवावस्था में जब युवक-युवती एक दूसरे के प्रति प्रेम से आकर्षित होते है, तब वे प्रेम के नए रूप से परिचित होते है जो उनके माता-पिता के प्रेम से अलग तरह का होता है। इस तरह अपने माता-पिता के प्रेम से उनका 'अलगाव' हो जाता है।

इसी तरह ज्ञान-विज्ञान या कला-कौशल के क्षेत्र में मनुष्य शुरू-शुरू में अपने कोई आर्दश चुनता है और अपने-आपको उनसे बहुत छोटा समझते हुए उनके अनुकरण का प्रयत्न करता है। परन्तु जब वह स्वयं इस क्षेत्र में पर्याप्त उन्नति कर लेता है तब पुराने आदर्श उसे बहुत साधारण लगने लगते है और वह किसी नए आदर्श की ओर आकर्षित होता है। ऐसी हालत में पुराने आदर्श से उसका 'अलगाव' हो जाता है। 'अलगाव' की यही प्रक्रिया संपूर्ण मनुष्य जाति के ऐतिहासिक विकास पर लागू होती है। ऐतिहासिक विकास के क्रम में मनुष्य जाति उत्तरोत्तर अलगाव की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को पार करते हुए अपनी नई-नई विशेषताएं अर्जित करती चलती है। इस तरह चेतन-तत्व अपनी पुरानी अभिव्यक्तियों से अपने-आपको अलग करते हुए नए-नए रूपों में ढलता चला जाता है। इस अर्थ में अलगाव मानव-प्रगति के इतिहास का आवश्यक लक्षण है।

अभ्यास प्रश्न-

1. हीगल के द्वन्द्ववादी सिद्धान्त की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए।
2. हीगल के इतिहास की व्याख्या पर संक्षिप्त टिप्पणी कीजिए।
3. हीगल के राष्ट्र-राज्य का सिद्धान्त क्या है?
4. हीगल के 'अलगाव' की संकल्पना पर प्रकाश डालिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न -

1. हीगल का जन्म किस सन् में हुआ था।

क. 1780 ख. 1771 ग. 1770 घ. 1772

2. स्पिरिट आफ फिलासफी पुस्तक किसके द्वारा लिखी गयी है।

क. वेपर ख. सेबाइन ग. मैक्सी घ. हीगल

3. हीगल का राज्य के संबंध में निम्न में से कौन का कथन है।

क. राज्य एक आवश्यक बुराई है।

ख. राज्य का आधार इच्छा है, शक्ति नहीं

ग. राज्य एक ऐसा यन्त्र है जिसके द्वारा एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग का शोषण किया जाता है।

घ. राज्य पृथ्वी पर ईश्वर की अवधारणा है।

9.4 परिवार, नागरिक समाज और राज्य की संकल्पना -

हीगल के अनुसार, सब वस्तुएं आत्म-ज्ञान की प्राप्ति के मार्ग में अग्रसर आत्मा द्वारा धारण किये गये अनेक रूप है। ये अभौतिक संसार से वनस्पति और पशुओं के भौतिक संसार में प्रगति करती हुई आती है और यह प्रगति उस समय तक निरंतर चलती है जब तक आत्मा मानव-जीवन की अपूर्ण चेतना की स्थिति में नहीं पहुँचती है। मानव-जीवन में आत्मा की शारीरिक और पाशविक शक्तियों का चरम उत्कर्ष प्राप्त होता है, बाहय जगत में विकास के अनेक स्तरों को पार करते हुए आत्मा सामाजिक आचार की संस्थाओं में प्रकट होती है। इन संस्थाओं में कुटुम्ब सर्वप्रथम है जिसका आधार पारस्परिक प्रेम तथा दूसरों के लिये आत्म-बलिदान की भावना है। कुटुम्ब अर्थात वाद की वृद्धि साथ समाज का प्रादुर्भाव होता है जो कुटुम्ब का प्रतिवाद है। कुटुम्ब में तो पारस्परिक प्रेम, सहानुभूति आदि गुण काम करते है, किन्तु समाज में प्रतियोगिता और संघर्ष दिखाई देते है। प्रत्येक व्यक्ति अपने हित की बात सोचता है और इस तरह संघर्ष जन्म लेते हैं। सामाजिक संघर्ष में व्यक्तियों को आत्मनिर्भर रहना पड़ता है जिससे व्यक्ति उन्नति करता है, लेकिन यह निरन्तर और असीमित संघर्ष अन्ततः व्यक्ति के विकास के मार्ग में बाधक बन जाता है। ऐसी अवस्था में यह आवश्यक प्रतीत होता है कि संघर्ष की मर्यादा स्थापित हो और पारस्परिक प्रेम एवं सहानुभूति का जीवन-संग्राम में स्थान हो। इस आवश्यकता की अनुभूति के साथ राज्य का प्रादुर्भाव होता है जो कुटुम्ब और समाज दोनो के गुणों का सामंजस्य है। राज्य के रूप में आत्मा का बाध्य विकास चरम सीमा पर पहुँच जाता है। इसलिए हीगल ने राज्य को अनेक विशेषणों से अलंकृत किया है - राज्य विश्वात्मा अर्थात ईश्वर का पार्थिव रूप है, वह पृथ्वी पर विद्यमान ईश्वरीय इच्छा है, वह पूर्ण बौद्धिकता की अभिव्यक्ति है।

जान लाक और रूसो जैसे उदारवादी विचारकों ने प्रकृतिक दशा के अंत का संकेत देने के लिये 'नागरिक समाज' और 'राज्य' शब्दावली का प्रयोग एक अर्थ में किया है, किन्तु हीगल ने 'नागरिक समाज' और राज्य में स्पष्ट अंतर करते हुए इन्हे नैतिक और आध्यात्मिक विकास की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के रूप में पहचाना है। हीगल के अनुसार, राज्य या राजनीतिक समाज ऐसा साधन नहीं है जिसे मुनष्य की व्यवहारिक तर्कबुद्धि के द्वारा व्यक्ति-उन्मुख लक्ष्यों की सिद्धि के लिये गढ़ा गया हो। हीगल के अनुसार, सामाजिक जीवन की नैतिक प्रकृति में तीन 'गतियां पाई' जाती है जो सब मिलाकर मानव-जीवन के बहुपक्षीय स्वरूप को उजागर करती है। ये तीन गतिंयां हैः 'परिवार', 'नागरिक समाज' और 'राज्य'। इनमें से प्रत्येक संस्था मानवीय संबंधो का ऐसा संगठन प्रस्तुत करती है जो भिन्न-भिन्न सिद्धान्तो पर आधारित है। इन तीनों के बीच जो द्वंद्वात्मक संबंध पाया जाता है, वह मानव-जीवन के भिन्न-भिन्न पक्षो को सार्थक करता है।

'परिवार' ऐसा मानवीय संबंध है जो 'विशेषोन्मुखी' परार्थवाद पर आधारित है, अर्थात इसमें मनुष्य व्यक्तिगत स्वार्थ से ऊँचा उठकर दूसरों के लिये त्याग करने को तत्पर होता है। पन्तु उसकी यह परार्थ भावना या परोपकार वृत्ति किन्हीं विशिष्ट व्यक्तियों तक सीमित होती है। दूसरे शब्दों में ,, यहॉ मनुष्य स्वार्थ से हटकर केवल अपने परिवार के सदस्यों का उपकार करने को तैयार होता है। उदाहरण के लिए, यहां व्यक्ति माता-पिता, भाई-बहनों, पति-पत्नी या संतान की सेवा में व्यक्तिगत स्वार्थ को भूल जाता है। जब कोई व्यक्ति अपने बच्चों के पालन-पोषण और शिक्षा-दीक्षा की चिंता करता है, या बूढ़े माता-पिता के कल्याण की व्यवस्था करता है, तब उसकी गतिविधियां संकीर्ण स्वार्थ भावना से प्रेरित नही होती, बल्कि दूसरो को लाभ पहुचाने की तत्परता से प्रेरित होती है

जिसे सामाजिक लोकाचार के अन्तर्गत एक कर्त्तव्य के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। परन्तु यह संबंध विशिष्ट व्यक्तियों के समूह तक सीमित होता है। अतः यह ऐसा परार्थवाद है जो कठोर सीमाओं से बंधा है।

अन्तर्वैक्तिक संबंधो की दूसरी महत्वपूर्ण गति को हीगल ने 'नागरिक समाज' की संज्ञा दी है। यह 'विश्वजनीन' स्वार्थवाद या 'अंहवाद' का क्षेत्र है। यहां मुनष्य (अपने परिवार के सदस्यो को छोड़कर) अन्य सब मनुष्यों के साथ स्वार्थ के आधार पर संबंध रखता है।

जहाँ परिवार के अन्तर्गत मनुष्य गिने-चुने लोगो के साथ संबंधो का निर्वाह करता है, नागरिक समाज उसे बहुत बड़े समुदाय या संपूर्ण समाज के साथ संबंध बनाने का अवसर प्रदान करता है। परंतु परिवार की भावना के विपरीत ये संबंध स्वार्थ पर आधारित होते है। यहाँ व्यक्ति अपने हितो की अधिकतम सिद्धि का प्रयत्न करता है, और अन्य सभी मनुष्यों के हितो को केवल अपने स्वार्थ की पूर्ति का साधन समझता है। अतः नागरिक समाज विशेष रूप से आर्थिक गतिविधियों का क्षेत्र है। समाज में व्यक्ति की हैसियत को निजी संपत्ति के आधार पर आंका जाता है। परन्तु वह केवल स्वार्थ-पूर्ति का साधन है, समाज-कल्याण का साधन नहीं। हीगल ने निजी सम्पत्ति के वितरण का समर्थन करता है। वह चेतावनी देता है कि व्यापक निर्धनता उस संरचना को खोखला कर देगी जिसका वह निर्माण करना चाहता है।

बाजार को सुचारू और नियमित रूप से चलाने के लिये कुछ नियमों और विश्वजनीन सिद्धान्तो की जरूरत होती है ताकि आगे चलकर उनके आधार पर कानून बनाये जा सके, और ऐसे न्यायालय स्थापित किए जा सके जो इन नियमों को लागू करने में समर्थ हो। हीगल ने नागरिक समाज के इस ढॉचे को बाह्य राज्य (External State) की संज्ञा दी है। हीगल ने लिखा है कि टामस हाब्स, और जान लॉक के बाद से आधुनिक राजनीतिक चिंतन के अन्तर्गत 'बाह्य राज्य' को ही सचमुच का 'राज्य' मान लिया गया है जिसका मतलब यह था कि तर्कसंगत स्वार्थ ही राजनीतिक दायित्व का आधार है। परंतु हीगल के अनुसार सामाजिक जीवन की तीसरी गति, अर्थात 'राज्य' को केवल व्यक्तिगत स्वार्थ की नींव पर खड़ा नहीं किया जा सकता। अतः नागरिक समाज और राज्य में अंतर करना जरूरी है। स्वार्थ के आधार पर नागरिकों से यह आशा कैसे की जा सकती है कि वे अपने राष्ट्र के सम्मान की रक्षा के लिये युद्ध में कूदकर अपनी जान पर खेल सके।

हीगल ने यह मान्यता प्रस्तुत की है कि राज्य की आधार-शिला व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं, बल्कि विश्वजनीन परार्थवाद है। हीगल ने ऐतिहासिक विकास का जो प्रतिरूप प्रस्तुत किया है, उसके अनुसार परिवार को हम 'पक्ष' मान सकते है, नागरिक समाज उसका 'प्रतिपक्ष' है और राज्य इनका 'संपक्ष' है। यह परिवार के 'परार्थवाद' को नागरिक समाज के 'विश्वजनीन' चरित्र के साथ जोड़कर इन दोनो से श्रेष्ठ रचना प्रस्तुत करता है। जो विश्वजनीन परार्थवाद पर आधारित है।

हीगल के अनुसार राज्य आत्मा के उच्चतम विकास का प्रतीक है। ईश्वर ही महायात्रा का अंतिम पड़ाव है। अब इससे आगे कोई विकास नहीं है। हीगल ने राज्य को पृथ्वी पर परमात्मा का अवतरण कहा है। जैसा कि गार्नर ने लिखा है कि, ''हीगल की दृष्टि में राज्य ईश्वरीय है, जो कोई गलती नही कर सकता, जो सर्वथा शक्तिशाली और अभ्रान्त है तथा नागरिकों के हित में प्रत्येक बलिदान का अधिकारी है। अपनी श्रेष्ठता के कारण और जिस त्याग एवं बलिदान के लिये राज्य अपने नागरिकों को आदेश देता है उसके फलस्वरूप वह न केवल व्यक्ति का उत्थान करता है बल्कि उसे श्रेष्ठत्व भी प्रदान करता है।'' हॉबहाउस के शब्दों में, '' हीगल का राज्य सिद्धान्त राज्य को एक महानतर प्राणी, एकात्पा और एक अभिव्यक्त सत्ता मानता है जिसमें व्यक्ति, उसके अन्तःकरण उसके दावे तथा अधिकार, उसके हर्ष और दुःख ये सब केवल गौण तत्व है।'' वेपर की व्याख्या के अनुसार हीगल के राज्य की कई

विशेषताएं है जिनमें एक यह कि राज्य दैवी है। यह आत्मविकास के उच्चतम शिखर की प्राप्ति है। यह पृथ्वी पर विद्यमान दैवीय अवधारणा है।

9.4.1. दास प्रथा से संबंधित विचारः-हीगल ने अपने सामाजिक चिंतन के अन्तर्गत दास प्रथा की समीक्षा भी की है। इस विषय पर उसके विचार प्राचीन यूनानी दार्शनिक अरस्तू के विचार से सर्वथा भिन्न है। प्राचीन समाज स्वामी (Master) और दास (Slave) इन दो वर्गो में बॅंटा था। अरस्तू ने दास-प्रथा का औचित्य सिद्ध करने के लिए यह तर्क दिया था कि सद्गुण अर्जित करने की क्षमता केवल स्वामी में पाई जाती है। दास में यह क्षमता नहीं पायी जाती, अतः वह स्वामी की सेवा करके ही सद्गुण का लाभ उठा सकता है। हीगल के समय दास-प्रथा उस रूप में प्रचलित नहीं थी। ऐसा लगता है कि हीगल ने अपने समय के निर्धन, कामगार वर्ग ही दुर्दशा के प्रति सरोकार अनुभव करते हुए उसे दास वर्ग की संज्ञा दे दी, उसे इस दासता से मुक्ति प्राप्त करने के लिय प्रेरित किया। स्वामी और दास के चरित्र में अन्तर करते हुए हीगल ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि दास अपनी स्थिति से स्वयं सद्गुण अर्जित करता है जबकि स्वामी सद्गुण शून्य हो जाता है। हीगल ने तर्क दिया कि दास अपने जीवन को भ्रम में मिलाकर तीन गुण अर्जित करता है। 1. ज्ञान (Knowledge) 2. प्रकृति का नियंत्रण (Power over Nature) 3. आत्मसंयम (self Discipline) दूसरी ओर, स्वामी श्रम से दूर रहने के कारण इनमें से कोई भी गुण अर्जित नहीं कर पाता। दास में एक ही कमी पाई जाती है वह अपने भय (Fear) के कारण दास बना रहता है। यदि वह अपने भय पर विजय प्राप्त कर ले तो वह दासता से मुक्त हो जायेगा। हीगल ने आशा प्रकट की कि कालान्तर में स्वामियों का अस्तित्व निरर्थक हो जाएगा, और वर्तमान दास ही नए समनतामूलक समुदाय का सृजन करेगे। ऐसा प्रतीत होता है कि हीगल ने उभरते हुए पूजीवाद के अन्तर्गत धनवान और निर्धन वर्गो के परस्पर संबंध को स्वामी और दास के परस्पर संबंध के रूप में देखा। वह निर्भर श्रमिक-वर्ग को अपनी क्षमताओं के प्रति सचेत करना चाहता था और उसके मन से डर को भगाना चाहता था ताकि वह अपनी तथाकथित दासता से मुक्त होकर एक नए समाज का निर्माण कर सके। हीगल के इन विचारों में कार्ल मार्क्स के क्रान्तिकारी विचारों का विशेषतः सर्वहारा की चेतना (Class consciousness) और वर्गहीन समाज (Classless Society) की संभावना का पूर्व संकेत मिलता है।

9.4.2. हीगल के स्वतंत्रता की संकल्पनाः-

जर्मनी की तत्कालीन विखंडित राजनीतिक परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में हीगल जर्मन राष्ट्र को सुदृढ़ करना चाहता था। हीगल स्वीकार करता था स्वतंत्रता का नारा आधुनिक जगत का मूल मंत्र है। उसकी मान्यता था कि कर्त्तव्यों का पालन किये बिना आत्म साक्षात्कार असम्भव है। फिर भी अपने ''राज्य दर्शन द्वारा उसने उस मानव-स्वतंत्रता का सर्वथा हनन ही किया। जिसका प्रवर्तन मिल्टन, लॉक आदि ने किया था।'' हीगल का कहना था कि पूर्व में एक सर्वोच्च सत्ताधारी राज्य ही स्वतंत्र था। पूर्व के लोग उस बात से अनभिज्ञ थे कि मनुष्य या आत्मा स्वतंत्र है। यूनान में आत्मनिष्ठ स्वतंत्रता का उदय हुआ और रोम में अर्मूत मान्यता की प्रधानता हुई। यूनान और रोम में कुछ ही व्यक्ति स्वतंत्र थे, क्योंकि वहा दास-प्रथा विद्यमान थी, किन्तु मानव-स्वतंत्रता का उदय जर्मनी में ही हुआ। जर्मन राष्ट्रों ने ही सर्वप्रथम यह अनुभव किया कि मनुष्य, मनुष्य के नाते स्वतंत्र है। हीगल ने स्वतंत्रता को व्यक्ति के 'जीवन का सार' मानते हुए कहा था कि ''स्वाधीनता मनुष्य का एक विशिष्ट गुण है जिसे अस्वीकार करना उसकी मनुष्यता कोअस्वीकार करना है। इसलिए स्वाधीन होने का अर्थ है अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों को तिलांजलि दे देना, क्योंकि राज्य के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु स्वाधीनता का प्रतीक नहीं हो सकती है। हीगल के अनुसार राज्य स्वयं में एक साध्य होते हुए भी स्वतंत्रता को प्रसारित करने का एक साधन है। विश्वात्मा का सार-तत्व स्वतंत्रता ही है और स्वतंत्रता चेतना की प्रगति विश्व का इतिहास है। जर्मन जाति को ही सर्वप्रथम इस चेतना की अनुभूति हुआ कि मनुष्य एक मनुष्य के नाते स्वतंत्र है। हीगल ने राज्य के सार्वभौम स्वरूप की पुष्टि की है, परंतु

इसमें व्यक्ति के जीवन के निजी (च्तपअंजम) और सार्वजनिक (च्नइसपब) पक्ष एक-दूसरे से एकदम कटे हुए नहीं होते। राजनीतिक स्वतंत्रता ऐसी प्रवृत्तियों के बीच नाजुक संतुलन की स्थिति है। जो परस्पर-विरोधी होते हुए भी आपस में जुड़ी होती है। हीगल के अनुसार यह समन्वय केवल आधुनिक राज्य में ही संभव है जो 'आत्मपरकता के क्षेत्र' (Sphere of Subjectivity) को वैध ठहराता है। नागरिक समाज आत्मपरक इच्छा की स्वयत्ता का क्षेत्र है। हीगल के अनुसार, राज्य 'मानवीय चेतना का विराट् रूप' है; यह विश्व में 'विवेक की यात्रा' है यह मनुष्य की स्वतंत्रता की उच्चतम अभिव्यक्ति है जो परिवार और नागरिक समाज के द्वन्द्वात्मक संघर्ष के परिणामस्वरूप अस्तित्व में आती है। चूंकि राज्य, विवेक और चेतना की साकार प्रतिमा है, इसलिए राज्य का कानून 'वस्तुपरक चेतना' (Objective Spirit) का मूर्तरूप है। अतः जो कोई कानून का पालन करता है, वही स्वतंत्र है।''

हीगल ने इस उदारवादी संकल्पना का खण्डन किया है कि स्वतंत्रता का अर्थ 'प्रतिबंध का अभाव' Absence of Restraint) है। हीगल के अनुसार, ऐसी स्वतंत्रता औपचारिक, स्वार्थपूर्वक और निस्सार होती है। उसने तर्क दिया है कि मनुष्य की इच्छा, आवेग और भावावेश पर लगाए गए प्रतिंबध उसकी स्वतंत्रता को सीमित नहीं करते बल्कि ये प्रतिबंध उसकी स्वतंत्रता की आवश्यक शर्त है, क्योंकि वे मनुष्य को अपना व्यवहार राज्य के उच्चतर विवेक के अनुरूप ढालने को विवश करते है। 'मनुष्य इन प्रतिबंधो को स्वेच्छा से स्वीकार करता है, या विवश होकर इससे कोई फर्क नहीं पड़ता, क्योकि स्वतंत्रता का अर्थ वर्तमान विकल्पों में से मनपसंद तरीके का चुनाव नहीः इसका अर्थ अपने आचरण को निर्धारित नियमों के अनुरूप ढालना है।

9.4.3. हीगल का मूल्यांकन -हीगल को महान दार्शनिक माना जाता है लेकिन अन्य विचारकों द्वारा उसके दर्शन की कटुतम आलोचना भी की गई है। हीगल का द्वन्द्ववाद बहुत अस्पष्ट है। उसकी तर्क प्रणाली दूषित और अत्यन्त दुरूह है। उसके द्वन्द्ववाद के प्रमुख उपकरण ऐतिहासिक आवश्यकता को पूर्णतः स्वीकार करना कठिन है। नैतिक निर्णय और उसकी आवश्यकता एवं भेद का आधार अस्पष्ट है। कैटलिन के अनुसार, ''जीवन के अनुभवों को वाद, प्रतिवाद और संवाद के अनुसार वर्गीकृत करना एक मनोरंजक मानसिक व्यायाम है। द्वन्द्ववादमानसिक व्यायाम के रूप मे महत्वहीन नहीं है, किन्तु विवेचन सिद्धान्त के रूप में अविश्वसनीय है।''

हीगल ने अपनी द्वन्द्वात्मक पद्धति द्वारा राज्य की निरंकुशता को प्रकट किया है। वह चरम राष्ट्रीयतावादी दार्शनिक था जिसने व्यक्ति तथा वैयक्तिक स्वतंत्रता का राज्य की वेदी पर बलिदान कर दिया। वह एक सर्वशक्तिमान निरंकुश राज्य का पुजारी था। बार्कर के शब्दों में उसने ''राष्ट्रीय राज्य को एक रहस्यात्मक स्तर तक पहुँचा दिया है।'' हीगल का सर्वाधिकारवादी राज्य जनतंत्र के साथ मेल नही खाता। आइवर ब्राउन के अनुसार व्यवहारिक दृष्टि से हीगल के सिद्धान्त का आशय है आत्मिक दासता, दैहिक अधीनता, अनिवार्य सैनिक भर्ती, राष्ट्रीय हितो के लिए युद्ध, शांतिकाल में लेवियाथन दैत्य की और युद्धकाल में मलोक (Maloch) की उपासना। आलोचकों ने हीगल को 20वी सदी की दो बड़ी सर्वाधिकारवादी विचारधाराओं-फासीवाद और साम्यवाद का मूल स्रोत माना है।

स्वतंत्रता के बारे मे हीगल की संकल्पना मुनष्य को राज्य का दास बना देती है। यह इस तर्क पर आधारित है कि मनुष्य विवेक का अनुसरण करके ही सच्ची स्वतंत्रता प्राप्त करता है; राज्य 'विवेक' का मूर्त रूप है; इसलिए स्वतंत्रता का अर्थ राज्य के आदेशों का पालन है। इसके विपरीत, लोकतंत्रीय परंपरा के अनुसार स्थूल प्रकृति और मानव जगत के नियम भिन्न-भिन्न कोटि के है। प्रकृतिक नियम अटल और अनन्य है, परंतु मानव निर्मित नियम परिवर्तनीय और सुनम्य है, अतः उसकी वैधता को चुनौती दी जा सकती है। सैद्धांतिक दृष्टि से हम राज्य को चाहे जितना भी विवेकपूर्ण मान ले, व्यवहारिक दृष्टि से राज्य के आदेश और कानून साधारण मनुष्यों के द्वारा जारी किये

जाते है, जो सर्वगुण सम्पन्न नहीं हो सकते। हीगल के अर्न्तराष्ट्रीय संबंधो के विचार अराजकता की सीमा केा छूते है। हीगल की विचारधारा के आधार पर राज्य अपने अनैतिक और सिद्धान्तहीन कार्यो को भी नैतिकता और औचित्य का जामा पहना सकते है। हीगल का राजदर्शन आवश्यकता से अधिक बुद्धिवादी है। यह एक अनुभव शून्य और शुष्क दार्शनिक के रूप में प्रकट होता है। भ्रमवश वह यह मान बैठा है कि विवेकशीलता ही वास्तविकता है और वास्तविकता ही विवेकशीलता है। वाहन के मत में हीगल की इस दार्शनिकता का प्रमुख कारण स्थापित व्यवस्था के प्रति उसका एक अन्धविश्वासपूर्ण सम्मान परिवर्तन तथा संशोधन करने वाली प्रत्येक इकाई के प्रति अविश्वास था।

कुछ भी हो, हीगल ने 'राज्य' को परिवार और 'नागरिक समाज' में निहित सिद्धान्तों के संश्लेषण का प्रतीक मानते हुए एक नया विचार प्रस्तुत किया। हीगल ने 'राज्य' संस्था के अन्तर्गत स्वतंत्रता, समानता, बंधुत्व - इन तीनो सिद्धान्तों के सार-तत्व को एक दूसरे के साथ मिलाने का भव्य प्रयत्न किया है। 19वीं सदी में हीगल का नाम तत्कालीन विश्व-विख्यात दार्शनिकों में उसी प्रकार प्रसिद्ध हो गया जिस प्रकार अरस्तू तथा सन्त टामस एक्वीनास के नाम उनके समय में प्रसिद्ध हो गये थे। हीगल ने अरस्तू और एक्वीनास के समान सम्पूर्ण ज्ञान का विश्लेषण करने की चेष्टा की और मौलिक नियमों की खोज की। ग्रीन, बोसांके, ब्रैडले उससे बहुत प्रभावित थे।

अभ्यास प्रश्नः

1. ''राज्य पृथ्वी पर ईश्वर का अवतरण है'' इस कथन को दृष्टिगत रखते हुए हीगल के राज्य संबंधी विचारों की विवेचना कीजिए।

2.राज्य एवं समाज के पारस्परिक संबन्धो के विषय में हीगल के क्या विचार है?

3.हीगल की स्वतंत्रता की संकल्पना को स्पष्ट करे।

4.हीगल के दास प्रथा से संबंधित विचार को स्पष्ट करे।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

1. हीगल का दर्शन निम्न में से कौन से वाद का आधार है -

क. उपयोगितावाद ख. साम्यवाद ग. समाजवाद घ. सर्वाधिकारवाद

2.हीलग ने सभ्य समाज को देखा -

क. विशिष्टता के साकार रूप में ख. एकता के साकार रूप में

ग. सार्वभौमिकता के साकार रूप में घ. समुदाय के साकार रूप में

3.'राज्य स्वतंत्रता का वास्तविक कारण है' यह कथन किसका है?

क. ग्रीन ख. रूसो ग. हीगल घ. स्पेंसर

4.'विवेकशीलता ही वास्तविकता है और वास्तविकता ही विवेकशीलता है' यह कथन किसका है?

क. मार्क्स ख. कांट ग. लॉक घ. हीगल

9.5 सारांश-

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप -हीगल के इतिहास दर्शन को भलीभॉति जान गये होगे। हीगल के राष्ट्र-राज्य के सिद्धान्त को समझ गये होगे। हीगल के स्वतंत्रता की संकल्पना को भली भाँति जान गये होगे। परिवार, नागरिक समाज एवं राज्य की संकल्पना को समझ गये होगे। हीगल के अलगाव की संकल्पना को भी समझ गये होगें।हीगल के दासप्रथा सम्बन्धी विचार को जान गये होगें।हीगल के दर्शन का आलोचनात्मक मूल्यांकन भी समझ गये होगे।

9.6 शब्दावली-

द्वन्द्वात्मक पद्धति - Dialectic Method

राज्य का आदर्शीकरण	-	Idealisation
वाद, प्रतिवाद, संश्लेषण	-	Thesis, Antithesis, Synthesis
निरंकुशतंत्र	-	Despotism
सर्वाधिकारवादी राज्य	-	Totalitarian State
विवेचन सिद्धान्त	-	Interpretative Principles
विश्वात्मा	-	World Spirit
सांविधानिक राजतंत्र	-	Constitutional Monarcy

9.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर-

9.3 के उत्तर - 1 –ग, 2 - घ , 3 - ग ,

9.4 के उत्तर - 1 - घ, 2 - ग , 3 - ग , 4 - घ

9.8 सन्दर्भ ग्रन्थः-

1. शर्मा, डॉ0 पी0डी0-आधुनिक राजदर्शन, कॉ-ऑपरेशन पब्लिकेशन्स, जयपुर, 2014

2. गाबा, ओम प्रकाश - राजनीति-चिंतन की रूपरेखा, मयूर पेपरबैक्स, नोयडा, 2006

3. गर्ग, सुषमा - पाश्चात्य राजनीतिक विचारक, अग्रवाल पब्लिकेशन्स, आगरा, 2014

4. जैन, पुखराज, जीवन मेहता- राजनीति विज्ञान, एस0 बी0पी0डी0 पब्लिकेशन्स आगरा।

5. अविनेरी एस, प्राब्लम ऑफ वार इन हीगल्स थॉट, जर्नल ऑफ हिस्ट्री आइडिया, 1961

6. हीगल एण्ड नेशनलिज्म, रिव्यू ऑफ पॉलिटिक्स, 24 (1962) 461-484

9.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्रीः-

1.सेबाइन, राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड-2

2.शर्मा, डॉ0 प्रभुदत्त (सम्पादित एवं अनुवादक) - अभिनव राजनीतिक चिन्तन, साहित्यागार, जयपुर, 2013

3.Dunning- History of Polical Theories, Vol III.

4.Barker- Political Thought in England.

5.Hegal: The Philosophy of Rights, Sec.270, Note

6. फोस्टर माइकेल, दि पॉलिटिकल फिलासफीज ऑफ प्लेटो एण्ड हीगल, न्यूयार्क रसैल, 1995.

9.10 निबंधात्मक प्रश्न-

प्र0.1. हीगल के इतिहास दर्शन पर एक निबन्ध लिखिए।

प्र02. हीगल के प्रमुख राजनीजिक विचारों का आलोचनात्मक विविचना कीजिए।

प्र03. हीगल के द्वन्द्ववादी सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या करे।

इकाई 10 : टामस हिल ग्रीन

10.1 प्रस्तावना

10.2 उद्देश्य

10.3.1 राजनीति का नैतिक आधार

10.3.2 ग्रीन का स्वतन्त्रता सम्बन्धी सिद्धान्त

10.3.3 ग्रीन के अधिकार विषयक विचार

10.3.4 सम्प्रभुता पर ग्रीन के विचार

10.4.1 सामान्य इच्छा पर ग्रीन के विचार

10.4.2 ग्रीन के अनुसार राज्य के कार्य

10.4.3 कल्याणकारी राज्य के आधार-तत्व

10.4.4 ग्रीन के विश्व-बन्धुत्व एवं युद्ध विषयक विचार

10.5 सारांश

10.6 शब्दावली

10.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

10.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

10.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

10.10 निबन्धात्मक प्रश्न

10.1 प्रस्तावना:-

टॉमस हिल ग्रीन का जन्म 7 अप्रैल 1836 को यार्कशायर के बरकिन नामक स्थान पर हुआ। उसके पिता इंग्लैण्ड के चर्च में एक विख्यात पादरी थे। 14 वर्ष की आयु तक ग्रीन ने घर में ही विद्यापार्जन किया। उसके बाद उसे रग्बी भेजा गया। वहाँ उसने पाँच वर्ष व्यतीत किये। सन् 1855में ग्रीन ने आक्सफोर्ड के बेलियन कालेज में प्रवेश प्राप्त किया। आक्सफोर्डमें उनका सम्पर्क प्रसिद्ध विद्वान प्रोफेसर बेन्जामिन जावेट के साथ हुआ, उनके ही प्रोत्साहन से ग्रीन का बौद्विक क्षेत्र में पदार्पण हुआ। 1860 में ग्रीन बेलियल में फेलो निर्वाचित हुए। 1866 में ट्यूटर बनाये गये और 1878 तक उसी पद पर कार्य करते रहे। 1878 में उन्हें आक्सफोर्ड में नैतिक दर्शन का प्रोफेसर बनाया गया। 26 मार्च 1882 को 46 वर्ष की अल्पायु में बीमारी से आक्सफोर्ड में मृत्यु हो गयी।

10.2. उद्देश्य-

ग्रीन के राजनीतिक दायित्वों के सिद्धान्त के व्याख्यानों का उद्देश्य राज्य, समाज तथा व्यक्ति के पारस्परिक संबंधों की व्याख्या करते हुए जन-स्वीकृति के सिद्धान्त का समर्थन करना था। ग्रीन का विचार-दर्शन एक क्रमबद्ध ईकाई है जिसे तीन भागों में बाँटा जा सकता है - आध्यात्मशास्त्र, आचारशास्त्र तथा राजनीति दर्शन। ग्रीन के सम्पूर्ण विचारों का केन्द्र आचारशास्त्र वाला भाग हैं। ग्रीन का विचार है कि राज्य मनुष्य को नैतिक नहीं बना सकता, परन्तु वह निश्चय ही ऐसी परिस्थितियां पैदा कर सकता है जिनमें मनुष्य की नैतिक उन्नित हो सके।

ग्रीन की कृतियां-

i. Prolegomena to Ethics (नीतिशास्त्र की प्रस्तावना) 1883

ii. Lectures on the Principals of Political Obligations (राजनीतिक दायित्व के सिद्धान्तों पर व्याख्यान) - 1882

iii. Lectures on Liberal Legislation and Freedom of contract (उदार व्यवस्थापन और अनुबन्धीय स्वतंत्रता पर भाषण)

iv. Lectures on the English Revolution (अंग्रेजी क्रान्ति पर भाषण)

v. Hume's Treatise हयूम पर प्रतिबन्ध- 1874

10**.3.1 राजनीति का नैतिक आधार- ग्रीन** के अनुसार राज्य के प्रत्येक व्यक्ति को शारीरिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक उन्नति करने का अधिकार है। राज्य में सब व्यक्ति समान है, उनमें किसी प्रकार का भेदभाव नहीं होना चाहिए। ग्रीन पर प्लेटो की अपेक्षा अरस्तू का अधिक प्रभाव था। अरस्तू की भांति उसने भी अपने नीतिशास्त्र की पूर्ति राजनीति से की। उसका विश्वास था कि ''राज्य का सर्वोपरि कत्तर्व्य अपने सदस्यों के लिये ऐसे कल्याण की सिद्धि सम्भव बनाना है जो सार्वजनिक कल्याण हो।'' अपने नीतिशास्त्र में वह आत्मसंतोष या आत्मानुभूति को आचरण का लक्ष्य बतलाता है और अपनी राजनीति में सार्वजनिक कल्याण को परम कल्याण की संज्ञा देता है। ग्रीन के आध्यात्मिक विचारों पर काण्ट की स्पष्ट छाप है। उसके इस सिद्धान्त का आरंभ बिन्दु ही काण्ट का यह विश्वास था कि विशुद्ध बुद्धि एवं यदा-कदा आत्मानुभूति द्वारा अंतिम अथवा परम सत्य को जाना जा सकता है। ग्रीन हयूम के अनुभववादी और स्पेंसर के विकासवादी सिद्धान्त का विरोधी है। ग्रीन के अनुसार मनुष्य में आत्म-चेतना है, जबकि निम्न कोटि के प्राणी में केवल 'चेतना' ही होती है। हीगल तथा फिक्टे की भांति ग्रीन भी यह मानता है कि संसार और आत्मा में एक ही तत्व व्याप्त है। यह तत्व बुद्धिगम्य होता है। इस बुद्धिगम्यता के कारण ही ज्ञान हो पाता है। ग्रीन की आत्मा चेतना का काण्ट के आत्म-ज्ञान से पर्याप्त साम्य है, तो उसकी शाश्वत चेतना हीगल के परम विवेक और आर्दश में ही है।

ग्रीन का पूर्ण विश्वास है कि प्रत्येक मनुष्य में शाश्वत चेतना का निवास रहता है। यही विश्वास उसके राजनीतिक एवं नैतिक विचारों का जन्मदाता है। मनुष्य की अपनी बुद्धि तथा चेतना भी होती है। जो विश्व चेतना के साथ मिलकर कार्य करती है। ग्रीन के अनुसार मुनष्य का कल्याणे केवल सुखदायी विचारधारा को अपनाने से ही नहीं होता, व केवल सुख की कामना नहीं करता बल्कि वह परम सुख का इच्छुक होता है। वह नैतिक जीवन में अनेक संघर्षो को पार करते हुए एक पूर्णता की ओर अग्रसर होता है। और इस पूर्णता को प्राप्त करने की धुन में भौतिक सुख को भी भूल जाता है। मनुष्य यदि अपने जीवन को वास्तव में सुखी बनाना चाहता है, तो उसे पूर्णता की प्राप्ति का लक्ष्य स्थिर करना चाहिए। स्पष्ट है कि ग्रीन सुखवाद की धारणा का खण्डन कर नैतिकता का समर्थन करता है। ग्रीन ने नैतिक ज्ञान को यथार्थ ज्ञान के रूप में मान्यता देते हुए नीतिशास्त्र को ऐसी कड़ी का दर्जा दिया जो राजनीति को तत्व मीमांसा के साथ जोड़ती है। ग्रीन का विचार था कि उदारवाद की परंपरा को जीवित रखने के लिये उसे दार्शनिक और नैतिक कसौटी पर खरा उतरना होगा।

10.3.2 ग्रीन का स्वतंत्रता सम्बन्धी सिद्धान्त- ग्रीन ने भी रूसों और काण्ट की भांति आने सम्पूर्ण व्यवहारिक दर्शन को स्वतंत्र नैतिक इच्छा पर आधारित किया है। ग्रीन के अनुसार स्वतंत्रता का अर्थ यह हैं कि समाज में सबको आत्म-विकास के लिये समान अवसर और परिस्थितियां प्राप्त हों, ऐसी परिस्थितियां जुटाना राज्य का दायित्व हैं। ग्रीन के अनुसार स्वतंत्रता दो प्रकार की होती है। प्रथम- आन्तरिक स्वतंत्रता, जिसका अर्थ होता है अपनी मनोवृत्तियों को वशमें रखना जो आचारशास्त्र का विषय है। द्वितीय- वाह्य स्वतंत्रता जिसका अर्थ है ऐसी बाह्य परिस्थितियों का होना जिनमें व्यक्ति निर्बाध रूप से अपने वास्तविक हित के निम्मित क्रियाशील हो सकें। ग्रीन के मानव चेतना संबंधी विचार नैतिक और आध्यात्मिक है। ग्रीन के अनुसार व्यक्ति के नैतिक जीवन का लक्ष्य नैतिक कार्यो को सम्पन्न करना है और राज्य का कर्तव्य व्यक्ति के आत्मनिर्णय की स्वतंत्रता तथा आदर्श चरित्र के निर्माण के मार्ग में बाधा उत्पन्न नहीं कर उसके व्यक्तित्व के विकास की बाधाओं को दूर करना है।

ग्रीन के अनुसार व्यक्ति की स्वतंत्रता का सार-तत्व 'आत्म-निणर्य' हैं। राज्य के लिये यह उचित नही है कि वह दमन और हस्तक्षेप की नीति अपनाकर या पैतृक शासन-व्यवस्था स्थापित करके व्यक्ति के 'आत्म-निर्णय' की प्रक्रिया में बाधा उपस्थित करें। उसके विपरीत राज्य का कर्तव्य यह है कि वह व्यक्ति की स्वतंत्र नैतिक इच्छा को मुक्त अभिव्यक्ति का अवसर दे और उसके मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करें।

स्वतंत्रता केवल योग्य कार्यो की ही होती है- ग्रीन के अनुसार ''मानव चेतना में स्वतंत्रता निहित है। स्वतंत्रता में अधिकार निहित है और अधिकारों के लिये राज्य आवश्यक है'' ग्रीन के अनुसार स्वतंत्रता का कार्य केवल शुभ इच्छा की स्वतंत्रता ही हो सकती है। अतः स्वतंत्रता का ऐसा नकारात्मक अर्थ नही लगाना चाहिए कि वह 'प्रतिबन्ध का अभाव' है जैसे सुंदरता का यह नकारात्मक अर्थ नहीं लगाया जा सकता कि वह 'कुरूपता का अभाव' है। ग्रीन के शब्दों में, ''स्वतंत्रता ऐसा करने या पाने की सकारात्मक शक्ति है जो करने योग्य या पाने योग्य हो।''करने योग्य कार्य को करने या पाने योग्य वस्तु को पाने की इच्छा ही 'सद्-इच्छा' है। और 'सद्-इच्छा' की पूर्ति की क्षमता या सकारात्मक शक्ति ही सकारात्मक स्वतंत्रता का सार-तत्व है। ग्रीन की स्वतंत्रता आत्मपरक और आन्तरिक होने के साथ-साथ वास्तविक और सकारात्मक भी है। ग्रीन के शब्दों में, ''हमारा आधुनिक कानून जो श्रम, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि से सम्बन्ध रखता है और जिसके कारण हमारी स्वतंत्रता में अधिकाधिक हस्ताक्षेप प्रतीत होता है। इस आधार पर न्यायोचित है कि राज्य का कार्य यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से नैतिक भलाई में वृद्धि करना नही है तथापि उन परिस्थितियाँ का निर्माण करना है जिनके बिना मानव-शक्तियों का स्वतंत्र रूप से कार्य करन असम्भव है'' राज्य को चाहिए कि वह उत्तम जीवन के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करें।

निश्चयात्मक स्वतंत्रता- स्वतंत्रता कार्य करने का अवसर प्रदान करती है, लेकिन इन कार्यो का स्वरूप निश्चयात्मक होता है अर्थात निश्चित कार्य करने की स्वतंत्रता-ऐसे कार्य जो किये जाने योग्य है, न कि प्रत्येक कार्य। एक व्यक्ति को पतन की ओर ले जाने वाले कार्यो को करने की स्वतंत्रता नहीं दी जा सकती। केवल उचित कार्यो को, ऐसे कार्यो को जो हमारे आत्मबोध में सहायक हो, करने की स्वतंत्रता हो सकती है। ग्रीन के अनुसार, ''स्वतंत्रता दूसरों के साथ मिलकर करने योग्य कामों का निश्चयात्मक अधिकार है।'' स्वतन्त्रता का अभिप्राय यह कदापि नहीं होता कि कोई व्यक्ति प्राप्त अधिकारो का दुरूपयोग करे। स्वतंत्रता शब्द अपने-आप में भी स्वतंत्र है और दूसरों को भी उतनी स्वतंत्रता प्रदान करता है जितना वह स्वयं स्वतंत्र है। स्वतंत्रता का वास्तविक उपयोग तभी किया जा सकता है जब वह अधिकारयुक्त है। अधिकार विहीन स्वतंत्रता उच्छश्रृंखलता में परिवर्तित हो जाती है।

10.3.3 ग्रीन के अधिकार विषयक विचार-

ग्रीन के अनुसार व्यक्ति के विकास में राज्य द्वारा आवश्यक सहायता पॅहुचानें का सर्वोत्तम माध्यम यह है कि वह पक्षपातहीन और सार्वभौम अधिकारों की व्यवस्था करे। अधिकार मनुष्य के आन्तरिक विकास के लिये आवश्यक बाह्य परिस्थितियां है। ग्रीन के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिये विभिन्न उचित कार्य करने की सनक अर्थात स्वतंत्रता चाहता है और उसके लिये उसे कुछ परिस्थितियों की अपेक्षा होती है। उन परिस्थितियों और सुविधाओं द्वारा ही वह आत्मानुभूति कर सकता है, आत्मविश्वास की चरम अवस्था में पहुँच सकता है। ये परिस्थितियां और सुविधाएं ही अधिकार है। अधिकार का निर्माण दे तत्वों से मिलकर होता है। (1) व्यक्ति की मांग (2) समाज की स्वीकृति। इनमें से किसी भी एक तत्व के नहीं होने पर अधिकार का अस्तित्व नहीं हो सकता। स्वयं ग्रीन के शब्दों में, ''किसी भी व्यक्ति को समाज कल्याण को महत्वपूर्ण मानने वाले समाज का सदस्य होने के नाते प्राप्त अधिकारों के अलावा दूसरे कोई अधिकार प्राप्त नहीं है। प्रकृतिक अधिकार अर्थात प्रकृतिक स्थिति में अधिकार , व्यवस्थित अधिकारों के विपरीत है, क्योंकि प्रकृतिक स्थिति में अधिकार व्यवस्थित समाज की स्थिति नहीं है। समाज के सदस्यों द्वारा सार्वजनिक कल्याण की भावना के अभाव में अध्किार का अस्तित्व नहीं हो सकता है।'' समुदाय का दायित्व और अधिकार व्यक्ति के दायित्व और अधिकार से संबंधित है। ग्रीन के अनुसार, ''केवल ऐसे मनुष्यों के लिये ही अधिकारों की स्वीकृति हो सकती है जो नैतिक दृष्टि से मनुष्य हो। एक सच्चा नैतिक व्यक्ति अधिकार प्राप्त करके सार्वजनिक कल्याण को अपना कल्याण बना लेता है। अधिकारों का नियम पारस्परिक स्वीकृति द्वारा होना चाहिए।'' ग्रीन के मतानुसार अधिकार स्वाभाविक उस अर्थ में है, जिस अर्थ में अरस्तू राज्य को स्वाभाविक समझता था। उन्हें आदर्श अधिकार कहना अधिक श्रेष्ठ होगा। इन अधिकारों को सद्भावना के आधार पर सुसंगठित समाज द्वारा अपने सदस्यों को प्रदान करना चाहिए और वह प्रदान भी करेगा।

अधिकार, नैतिकता और कानून का संबंध- ग्रीन अधिकारों का नैतिकता तथा कानून से घनिष्ठ संबंध और भेद मानता है। अधिकार नैतिक जीवन से घनिष्ठ संबंध रखते है क्योंकि अधिकारों के बिना नैतिक जीवन बिताना संभव नही है। अधिकार का पालन बलपूर्वक कराया जा सकता है, जबकि नैतिकता का संबंध आन्तरिक मनःस्थिति से है, उसका पालन बल प्रयोग द्वारा नहीं कराया जा सकता।

अधिकार और कानून में भी घनिष्ठ संबंध है। अधिकार प्रारंभ में नैतिक मांगे होती है जिन्हे बादमें कानूनी रूप देकर अधिकार का दर्जा प्राप्त हो जाता है। किसी भी अधिकार को कानूनी रूप देकर राज्य द्वारा बलपूर्वक पालन कराया जा सकता है। अधिकार और कानून में अन्तर भी है। सभी कानून नैतिक दृष्टि से न्यायोचित हो यह आवश्यक नहीं। राज्य द्वारा अन्यायपूर्ण कानून भी बनाये जा सकते है। जैसे- प्राचीन यूनान में दास प्रथा प्रचलित थी, उसी प्रकार हिन्दू समाज में छुआछूत की अन्यायमूलक व्यवस्था थी।

10.3.4 सम्प्रभुता पर ग्रीन के विचार-

राज्य अधिकारों को क्रियान्वित करने वाली सर्वोच्च संस्था है। इसके पास बाध्यकारी शक्ति है, जिसके माध्यम से राज्य समाज में अधिकारों और कर्तव्यों की व्याख्या कायम रखता है। इस बाध्यकारी शक्ति को राजदर्शन में राज्य की सर्वोच्च सत्ता या सम्प्रभुता कहते है जहाँ रूसो के अनुसार 'सम्प्रभुता' सामान्य इच्छा या जनता में निहित होती है, वही जॉन आस्टिन के अनुसार 'सम्प्रभुता' का निवास 'किसी निश्चित सर्वोच्च मानव' में होता है। ग्रीन सम्प्रभुता संबंधी दोनो दृष्टिकोणों को विरोधी न मानकर पूरक मानता है। रूसो द्वारा प्रतिपादित सामान्य इच्छा के सिद्धान्त को राज्य का आधार मानते हुए वह कहता है कि समाज की सामूहिक नैतिक चेतना अधिकारों के अस्तित्व को स्वीकार करती है और इन्हीं अधिकारों की रक्षा करने के लिये सर्वोच्च सम्पन्न राज्य का जन्म होता

है। राजा की सम्प्रभुता का आधार समाज की सामान्य इच्छा है। इसके साथ ही ग्रीन आस्टिन के सम्प्रभुता सम्बन्धी सिद्धान्त के इस आधार को स्वीकार कर लेता है कि एक पूर्ण रूप ले विकसित समाज में कोई निश्चित मानव या समूह ऐसा होना चाहिए जिसके पास अन्ततः कानून निर्मित कर क्रियान्वित करने की शक्ति होनी चाहिए तथा जिसकी शक्ति पर किसी प्रकार का वैधानिक अंकुश न हो।

ग्रीन के अनुसार सम्प्रभुता सामान्य हित पर आधारित ऐसी सर्वोच्च नैतिक शक्ति जो सामाजिक मान्यता प्राप्त किसी एक व्यक्ति या व्यक्ति समूह के माध्यम से अभिव्यक्त होती है और जिसे सामाजिक हित में मानकर सभी लोगो द्वारा उसके आदेशों को स्वीकार किया जाता है। वह उसे 'सार्वभौम बुद्धित्ता पूर्ण इच्छा' के नाम से पुकारता है।

अभ्यास प्रश्न -वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1.निम्नलिखित में से किस विचारक के बारे में यह कहा जा सकता है कि उसने आधुनिक लोक कल्याणकारी राज्य के सिद्धान्त का मार्ग प्रशस्त किया है?

(क) स्पेन्सर (ख) टी. एच. ग्रीन

(ग) बैन्थम (घ) डायसी

2.ग्रीन की स्वतंत्रता की अवधारणा आधारित है -

(क) रूसो और हीगल के विचारो पर (ख) रूसो और बेथंम के विचारो पर

(ग) बेथंम और मिल के विचारों पर (घ) हीगल और मिल के विचारों पर

3.''स्वतंत्रता के लिये अधिकार और अधिकारों के लिये राज्य चाहिए'' इस विचार का प्रतिपादक है।

(क) लास्की (ख) प्लेटो

(ग)लॉक (घ) ग्रीन

4.'मानवीय चेतना स्वतंत्रता का आधार प्रस्तुत करती है; स्वतंत्रता के साथ अधिकार जुड़े होते है और अधिकार राज्य की मांग करते है।'' यह कथन किसका है-

(क) लास्की (ख) ग्रीन

(ग) रूसो (घ) जे. एस. मिल

11.4.1 सामान्य इच्छा पर ग्रीन के विचार -

सामान्य इच्छा की धारणा के संबंध में ग्रीन, हॉब्स, लाक और रूसो से बहुत प्रभावित है तथापि इनके सिद्धान्तों में एक गंभीर दोष यह है कि संप्रभु और प्रजा को अमूर्त मानने के कारण यर्थाथता से दूर चले जाते है। ग्रीन का विश्वास है कि सामान्य हित की चेतना समाज को जन्म देती है। सामान्य हित की जो सामान्य चेतना होती है, उसको ग्रीन 'सामान्य इच्छा' (General Will) की संज्ञा देता है। जहाँ अनुभववाद और उपयोगितावाद के समर्थक व्यक्तियों को पृथक-पृथक इकाईयों के रूप में देखते है, वहां ग्रीन ने मनुष्य की सामाजिक प्रकृति पर विशेष बल दिया है। ग्रीन के अनुसार मनुष्य वस्तुतः आत्म चेतना प्राणियों (Self Conscious Beings) के रूप में उस 'शुभ', हित या कल्याण (Good) कह सिद्धि करना चाहते है जिसे व अपने समुदाय के अन्य सदस्यों के साथ मिलकर अपने मन में उतारते है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य अपने स्वार्थ की सिद्धि करना चाहते है। जिसे वे अपने समुदाय के अन्य सदस्यों के साथ मिलकर अपने मन में उतारते है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य अपने स्वार्थ या व्यक्तिगत शुभ को उतनी अच्छी तरह नहीं पहचानते जितनी अच्छी तरह वे सामान्य शुभ या सामान्य हित को पहचानते है। ग्रीन ने इच्छा के दो रूप माने है। (प) वास्तविक इच्छा (lActual will पप) यर्थाथ इच्छा (Real Will)। वास्तविक इच्छा स्वार्थपूर्ण

होती है इसका निर्माण मनुष्य की काम, क्रोध, मोह आदि भावनाओं के वशीभूत होता है। यह इच्छा विवेकहीन होती है और यर्थाथ इच्छा अर्थात सदेच्छा (Real Will or Good Will) मार्ग में बाधाएं उत्पन्न करती है। इन सद-इच्छाओं के सामूहिक रूप को ही ग्रीन ने सामान्य इच्छा की संज्ञा दी है। ये सद्-इच्छाएं ही राज्य का वास्तविक आधार है और राज्य इनका प्रतिनिधित्व करता है। यदि वास्तविक इच्छाओं अर्थात भावनात्मक इच्छाओं के अनुसार मनुष्य को आचरण करने दिया जाए, तो मानव के नैतिक विकास का वातावरण का निर्माण कभी नहीं होगा। यही कारण है कि सामान्य चेतना किसी ऐसी नैतिक संस्था को आवश्यक समझती है, जो स्वतंत्र कार्यों के लिये आवश्यक अधिकारों की रक्षा कर सके। इस नैतिक संस्था का नाम ही राज्य है।

ग्रीन के अनुसार राज्य का आधार शक्ति नही, इच्छा है। राज्य व्यक्तियों की सामान्य हित कामना का फल है। राज्य के कानून भी सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व करते है। जनता उनका पालन इसलिए नहीं करती कि उल्लंघन करने पर दण्ड का भय होता है। वरन् इस अनुभूति के फलस्वरूप करती है कि राज्य और उसके कानून सामान्य हित की सामान्य इच्छा पर आधारित है। प्रत्येक कानून अधिकारों की रक्षा में एक कड़ी का कार्य करता है। अतः राज्य शक्ति का नहीं, इच्छा का प्रतीक है। ग्रीन राज्य को बल-प्रयोग का अधिकार इसलिए देता है कि राज्य में सामान्य इच्छा का निवास होता है। ग्रीन की सामान्य इच्छा 'राज्य की इच्छा' नहीं अपितु राज्य के लिये इच्छा है।

कभी-कभी राज्य हमारे विरूद्ध बल प्रयोग करता है, पर वह हमारी सबकी इच्छा से ही वैसा करता है, क्योंकि इसी कार्य के लिए हमने उसकी स्थापना की है।

10.4.2 ग्रीन के अनुसार राज्य के कार्य –

ग्रीन के राज्य संबंधी विचार पूर्णतया मौलिक है। उसने राज्य के कर्त्तव्यों का उल्लेख करते हुए रचनात्मक तथ्यों पर बल दिया। उसने एक आदर्श राज्य की कल्पना की है पर राज्य के जिन कार्योंका उल्लेख किया है वह यथार्थ राज्यों के ही कार्य है। ग्रीन राज्य को वाह्य तथा आन्तरिक दोनो दृष्टियों से सीमित मानता है। राज्य के कार्य सकारात्मक तथा नकारात्मक दोनों प्रकार के होने चाहिए। सकारात्मक दृष्टि से वह चाहता है कि राज्य व्यक्ति को वह कार्य करने दे जो कार्य करने योग्य है और इनके करने में जहाँ बाधाओं के कारण असमर्थ हो, उन बाधाओं को दूर करें। ग्रीन राज्य को अधिकार देता है कि नैतिकता के विकास के लिये उचित होने पर वह नागरिकों के कार्य में हस्तक्षेप करें तथा आवश्यक होने पर बल प्रयोग से भी न हिचके। नकारात्मक दृष्टि से राज्य का यह कर्त्तव्य किसी भी प्रकार व्यक्ति का आन्तरिक अथवा नैतिक सहायता प्रदान करना नहीं है अपितु उसका कार्य तो बाह्य हस्तक्षेप द्वारा ऐसा वातावरण उत्पन्न करना है जिससे व्यक्ति में अधिक से अधिक सामाजिक अथवा नैतिक चेतना उत्पन्न हो। राज्य ऐसे व्यक्तियों के लिये दण्ड की व्यवस्था करें जो सामाजिक उन्नति के मार्ग में बाधक हो । राज्य उन सब स्थितियों को दूर करने हेतु प्रयत्नशील हो, जो नैतिकता के विकास में बाधक हो। राज्य का कार्य श्रेष्ठ जीवन-निर्वाह की बाधाओं को दूर करना है।

ग्रीन के अनुसार, राज्य की शक्ति या प्रभुसत्ता मनुष्यों के नैतिक अधिकारों को लागू करने का साधन मात्र है। यदि सभी मनुष्य सब जगह सबके लिए आदर्श वस्तुओं की कामना करते है, और कोई किसी के मार्ग में बाधा उपस्थित न करता तो समाज स्वयं चालित होता और उसमें राज्य की सत्ता या प्रभुसत्ता स्थापित करने की आवश्यकता ही न होती। परन्तु व्यवहारतः मनुष्य में दो तरह की इच्छा पायी जाती है। 'सद-इच्छा और तात्कालिक-इच्छा सद्-इच्छा तो मनुष्य को दूसरों के अधिकारों का सम्मान करने की प्रेरणा देती है, परन्तु तात्कालिक इच्छा उसे उससे विमुख कर सकती है। ऐसी हालत में तात्कालिक इच्छा के दमन के लिए कानून की जरूरत पैदा होती है। अतः कानून

मनुष्य को कुछ कार्य करने या न करने के लिए विवश कर सकता है, परन्तु ऐसे कार्य वाह्य कार्य होंगे। कोई भी कानून मनुष्यों को नैतिक नहीं बना सकता क्योंकि नैतिकता ऐसी प्रेरणा पर आधारित है जिसकी स्वतन्त्र रूप से इच्छा की गयी है। अतः ग्रीन ने लिखा है ' राज्य का आधार इच्छा है, बल प्रयोग नहीं'।

ग्रीन के अनुसार राज्य नैतिकता को लागू नहीं कर सकता क्योंकि नैतिकता तो व्यक्ति के अन्तःकरण की वस्तु हैः नैतिकता का स्वरूप ही ऐसा है कि उसे सकारात्मक तरीके अपनाकर राज्य के द्वारा बढ़ाया नहीं जा सकता। राज्य व्यक्ति को अपने कानूनों के माध्यम से नैतिक नहीं बना सकता। ग्रीन के शब्दों में, व्यक्ति के बाहरी आचार-विचार को प्रत्यक्ष रूप से, किसी प्रकार के दण्ड की धमकी देकर कोई प्रतिबन्ध लगाना सामान्य हित के विरूद्ध है। व्यक्ति के आचरण की सारी क्रियाएं सामान्य हित की दृष्टि से, स्वाभाविक रूप से चलनी चाहिए। सरकारी प्रतिबन्ध सामान्य हित के स्वाभाविक संचालन में हस्तक्षेप है और उस क्षमता के विकास में रूकावट है, जो अधिकारों के लाभकारी प्रयोग की आवश्यक शर्त है। अतः राज्य का प्रत्येक हस्तक्षेप रूकावटें दूर करने तक ही सीमित रहना चाहिए।

राज्य का हस्तक्षेप व्यक्ति के जीवन में कहॉ तक होगा तथा बाधाओं को दूर करने के लिए राज्य क्या-क्या करेगा? ग्रीन ने उसकी कोई निश्चित सीमांए निर्धारित नहीं की है, किन्तु उसने अपनी समकालीन व्यवहारिक परिस्थितियों को देखते हुए कुछ उदाहरण अवश्य दिया है। नकारात्मक दृष्टि से वह मानता है कि अज्ञानता, बर्बरता आदि के निराकरण द्वारा राज्य को व्यक्ति के नैतिक विकास के लिए उचित शिक्षा का प्रबन्ध करना चाहिए। राज्य को भूमि व्यवस्था का कार्य अपने हाथ में लेना चाहिए। व्यक्तियों को व्यक्तिगत सम्पत्ति की देखभाल करनी चाहिए। मद्यपान का निषेध करना चाहिए। भिक्षावृत्ति को मिटाना चाहिए आदि। ग्रीन उन्हें मानव-विकास के मार्ग की बाधाएं मानता है और इसलिए इन्हें दूर करने के लिए राज्य के प्रयत्नों की वकालत करता हैं।'' बार्कर के अनुसार, ''ग्रीन स्वाधीनता की सृष्टि के लिये बल का प्रयोग करता है।''ग्रीन का यह दृष्टिकोण कि राज्य का कार्य श्रेष्ठ जीवन के मार्ग में आने वाली बाधाओं को प्रतिबन्धित करता है, नकारात्मक प्रतीत होता है। इस संबन्ध में बार्कर का मत है कि ''ग्रीन की धारणा के अनुसार राज्य का कार्य आवश्यक रूप से नकारात्मक है। वह उन बाधाओं को हटाने तक ही सीमित है, जो मानवीय क्षमता को करणीय कार्य करने से रोकती है। राज्य का अपने सदस्यों को श्रेष्ठतर बनाने का कोई सकारात्मक नैतिक कार्य नही है। उसका कार्य तो उन बाधाओं को दूर करने का है, जो व्यक्तियों को श्रेष्ठतर बनाने से रोकती है और यह एक नकारात्मक कार्य है।

ग्रीन के मतानुसार शासन को ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि मानव-नैतिक सिद्धान्तों पर चलता हुआ अपने कर्तव्यों का निष्काम भाव से निष्पादन कर सके। इन कर्तव्यों को निभाने के लिए उपर्युक्त अवस्था का निर्माण ही अधिकार है। राज्य के इस प्रकार के हस्तक्षेप से स्वतन्त्रता में कमी न होकर वृद्धि होती है। क्योंकि इस हस्तक्षेप में ही समाज का हित निहित है- ''स्वतन्त्रता विरोधी शक्तियों को दबाने के लिए राज्य को बल प्रयोग अवश्य करना होगा।'' ग्रीन के अनुसार राज्य का कार्य विभिन्न संघों के पारस्परिक संबन्धों को सुव्यवस्थित करना भी है। वह प्रत्येक संघ की आन्तरिक अधिकार व्यवस्था का संतुलन करता है। और ऐसी प्रत्येक अधिकार व्यवस्था का शेष अन्य व्यवस्थाओं के साथ वाह्य समन्वय करता है। समन्वय स्थापित करने के अधिकार के कारण राज्य को अंतिम सत्ता प्राप्त है। निष्कर्ष रूप में ग्रीन द्वारा निर्धारित राज्य के कार्य इस प्रकार हैः-

1. नैतिकता में बाधा उपस्थित करने वाली परिस्थितियों का दमन करना।

2. सदाचरण, पवित्रता तथा संयम को प्रोत्साहित करना।

3. उन साधनों की व्याख्या करना जिनसे नागरिकों में नैतिक भावनाओं का विकास हों।

4. ऐसे लोगो के लिए दण्ड व्यवस्था करना जो नैतिक नियमों में बाधक हों।

5. शिक्षा-प्रसार द्वारा अज्ञानता रूपी सामाजिक अभिशाप को समाप्त करना।

6. सामान्य इच्छा और जन-कल्याण में प्रतिरोध उपस्थित करने वाले मद्य-निषेध हेतु कानून लागू करना।

7. व्यक्तिगत सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकारों की रक्षा करना एवं भूमि नियन्त्रण लागू करना।

8. विभिन्न वर्गों एवं स्वार्थों में सामंजस्य स्थापित करना और बहुसंख्यक वर्ग के लाभ के कार्य करना।

9. नैतिकता की अभिवृद्धि के लिए प्रत्यक्ष रूप से बल-प्रयोग नहीं करना।

10. अन्तर्राष्ट्रीय भावना को प्रोत्साहित कर अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की स्थापना में सहायक बनाना।

राज्य के ये कार्य केवल निषेधात्मक ही प्रतीत नहीं होते, अपितु व्यवहारिक रूप में ग्रीन ने राज्य के विधेयात्मक कार्यों पर भी बहुत बल दिया है। ग्रीन के राज्य के कार्य सम्बन्धी विचारों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उसने व्यक्ति को विशेष महत्व और गरिमा प्रदान करते हुए उसे हीगल की भॉति राज्य का साधन नहीं माना, अपितु साध्य बना दिया है। ग्रीन का चरम लक्ष्य व्यक्ति और उसका विकास है।

10.4.3 कल्याण कारी राज्य के आधार तत्वः-

ग्रीन ने रूसों काण्ट और हेगेल जैसे आदर्शवादी विचारकों की शिक्षाओं को उदारवाद की मान्यताओं के साथ जोड़कर इसे 'कल्याणकारी राज्य; की दिशा में आगे बढ़ाया। ग्रीन ने जिस नैतिक स्वतन्त्रता का समर्थन किया, वह कल्याणकारी राज्य का महत्वपूर्ण तत्व है। उसके विचार से, नैतिक स्वतन्त्रता तो मनुष्य का उपर्युक्त गुण है। सच्ची स्वतन्त्रता अधिकारों की मांग करती है। अधिकार मनुष्यों के नैतिक चरित्र से जन्म लेते है, किसी अनुभवातीत कानून से जन्म नहीं लेते, जैसा कि जॉन लॉक ने सोचा था। अधिकारों की व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक मनुष्य यह स्वीकार करता है कि उसे स्वयं और उसके सहचरों को आदर्श उद्देश्यों की सिद्धि का समान अधिकार है।

ग्रीन ने राज्य को समाजों का समाज माना है। इन समाजों का निर्माणकर्ता राज्य नहीं किन्तु इन सबके बीच एक निश्चित समन्वय स्थापित करने का राज्य को अधिकार है। बार्कर के शब्दों में, ''राज्य प्रत्येक संघ की आन्तरिक अधिकार - व्यवस्था का संतुलन और ऐसी प्रत्येक अधिकार व्यवस्था का शेष अन्य व्यवस्थाओं के साथ समन्वय करता है।'' इसी समन्वय स्थापित करने के अपने अधिकार के कारण राज्य एक अंतिम राजसत्ता प्राप्त संस्था है। राज्य एक संगठित शक्ति का प्रतीक है, शक्ति सम्पन्न होने से वह शक्ति का प्रयोग भी कर सकता है। इसके विपरीत समाज शक्तिहीनता का द्योतक है, क्योंकि समाज की रचना विविध और विभिन्न वर्गो, तत्वों, स्वार्थो और व्यक्ति से होती है। समाज में व्यक्ति और राज्य के मध्य परिवार, धर्म, संघ, आर्थिक-संघ, व्यावसायिक और औद्योगिक संघ, शिक्षण संघ आदि अनेक उपयोगी समुदाय होते है। जिनकी सदस्यता व्यक्ति ग्रहण करता है, लेकिन राज्य की सदस्यता सर्वोच्च मानी जाती है। राज्य का कार्य इन सब समुदायों में नियन्त्रण तथा सामन्जस्य कायम रखना है, उन्हें मिटाना अथवा छीनना राज्य का उद्देश्य नहीं होता। समुदायों की तुलना में राज्य को प्राथमिकता दी जाती है।

समाज में बाध्यकारी शक्ति नहीं होती। राज्य के माध्यम से ही समाज के उद्देश्यों की पूर्ति होती है। राज्य ही सब तरह के अधिकारों, विधियों, नियमों का स्रोत है।

ग्रीन ने सम्पत्ति के विनियमन पर विशेष बल दिया है जो कि कल्याणकारी राज्य की प्रमुख विशेषता है। वैसें अधिकारों के समर्थक के नाते उसने सम्पत्ति के अधिकार का भी समर्थन किया है क्योंकि सम्पत्ति सामाजिक हित को बढ़ावा दे सकती है। मनुष्य की स्वतन्त्रता भी यह मांग करती है कि मनुष्य को भौतिक वस्तुए अर्जित करने का अधिकार होना चाहिए। परन्तु सम्पत्ति की विषमता ग्रीन को दुविधा में डाल देती है। जब सम्पत्ति का अधिकार ऐसी परिस्थितियां पैदा कर देता है कि कुछ लोगों को उसका बहुत बड़ा हिस्सा मिल जाता है, और दूसरों के लिए नैतिक स्वतन्त्रता के प्रयोग में बाधा उपस्थित हो जाती है तब सम्पत्ति के अधिकार का नियमन जरूरी हो जाता है। ग्रीन ने विशेष रूप से भूमि के स्वामित्व को ऐसी स्थिति के लिए दोषी ठहराया है।

दण्ड पर ग्रीन के विचार ;

ग्रीन के अनुसार अपराधी की समाजविरोधी इच्छा स्वतन्त्रता विरोधी शक्ति है। ऐसी स्थिति में दण्ड उस शक्ति का विरोध करने वाली शक्ति बन जाता है। अधिकारों का उपर्युक्त प्रयोग संभव बनाने के लिए ही दण्ड-विधान आवश्यक है। वस्तुतः समूह में रहने का अधिकार इस योग्यता पर प्राप्त होता है कि मनुष्य सामान्य हित के लिए कार्य करेगा। तथा इसमें यह अधिकार निहित है कि विघ्नों और बाधाओं से उसकी रक्षा की जायेगी। ग्रीन के अनुसार दण्ड-विधान का महत्व यह है कि यदि स्वेच्छा से कभी समाज के विनाश पर उतारू हो जाए, तो समाज का अन्त करने से पूर्व ही उस व्यक्ति को फासी पर चढ़ा देना चाहिए। ग्रीन के दण्ड सिद्धान्त में प्रतिशोधात्मक, प्रतिरोधात्मक और सुधारात्मक तीनों की तत्वों का समावेश है। प्रतिशोधात्मक तत्व इस रूप में विद्यमान हैं कि दण्ड द्वारा अपराधी के मन में यह भावना उत्पन्न होती है कि दण्ड उसके किए हुए कर्म का ही प्रतिफल है। प्रतिशोधात्मक तत्व का समावेश इस रूप में है कि दण्ड का उद्देश्य समाज में अपराध के प्रति भय का संचार करता है ताकि मनुष्य अपराधी मनोवृत्ति कापरित्याग कर दें। सुधारात्मक तत्व का उद्देश्य है कि दण्ड द्वारा अपराधी में आन्तरिक सुधार की भावना जाग्रत होनी चाहिए। ग्रीन ने इन तीनों ही तत्वों पर न्यूनाधिक बल दिया है, किन्तु सर्वाधिक मान्यता प्रतिरोधात्मक अथवा निवारणात्मक ;क्मजमतपंदज वत च्तपअमदजपअंद्ध सिद्धान्त को ही दी गई है।

ग्रीन के अनुसार बदला एक विशिष्ट स्थिति है जबकि विधि एक सार्वजनिक वस्तु है। जब व्यक्ति अपराध करता है तो उसके प्रति प्रतिशोध जैसे निम्न स्तर की भावना उचित नहीं हैं। प्रतिशोध में वैर भाव निहित है। किन्तु जब राज्य दण्ड की व्यवस्था करता है तो उसमें अपराधी के प्रति कोई वैर भाव निहित नहीं होती। राज्य वैर भाव से कभी दण्ड नहीं देता। राज्य का उद्देश्य प्रतिशोधात्मक नहीं होकर केवल अधिकारों को भंग होने से रोकना है। ''दण्ड विधान का न्यायपूर्ण दृष्टिकोण यह है कि दण्ड द्वारा अपराधी को इस बात का आभास होता है कि अधिकार क्या है। और उसके कौन से अधिकार का उल्लंघन किया है जिसके कारण से दण्ड मिला है। ''आवश्यक केवल यह है कि अधिकार सामान्य हित पर आधारित हो। यदि ऐसा है तो अपराधी को स्वयं ही यह भान हो जायेगा कि दण्ड उसके कार्यों का ही प्रतिफल है और इस रूप में दण्ड प्रतिशोधात्मक कहा जा सकता है। न कि इस बदले के विचार से कि ऑख के बदले आँख और दाँत के बदले दाँत निकाल लों। दण्ड का यह तरीका एकदम असभ्य और जंगली है।

ग्रीन के निराधात्मक तत्व को अत्यधिक महत्व दिया है, क्योंकि इस सिद्धान्त के आधार पर दण्ड का मुख्य उद्देश्य अपराधी को पीड़ा के लिए पीड़ा देना नहीं है। और न ही मुख्यतः भविष्य में उसको फिर से अपराध करने से रोकना

है, वरन् उन व्यक्तियों के मस्तिष्क में भय का संचार करना है जो अपराध के लिए उद्यत है। दण्ड का उद्देश्य उन वाह्य परिस्थितियों को सुरक्षित रखना है जो स्वतन्त्र इच्छा पर आधारित कार्यों के लिए आवश्यक है।

ग्रीन के अनुसार प्रतिरोधात्मक सिद्धान्त में एक बुराई यह है कि इससे किसी व्यक्ति को अन्य व्यक्तियों को शिक्षा देने का साधन बना लिया जाता है, जबकि वास्तव में व्यक्ति स्वयं साध्य है, साधन नहीं है। पर इस कमी के बावजूद प्रतिरोधात्मक सिद्धान्त का महत्व कम नहीं है। दण्ड-विधान के इस सिद्धान्त को न्यायपूर्ण बनाने के लिये आवश्यक है कि अपराधी को जिस अधिकार का उल्लंघन करने के लिए दण्डित किया जा रहा है, वह काल्पनिक नहीं होकर वास्तविक हो। यह भी आवश्यक है कि केवल उतना ही दण्ड दिया जाए जितना कि पर्याप्त हो। उदाहरण के लिए एक बकरी चुराने के अपराध में मृत्युदण्ड देना न्यायपूर्ण नहीं है।

प्रतिरोधात्मक सिद्धान्त के अनुसार कठोर दण्ड का अर्थ ऐसा दण्ड होगा जिससे अन्य लोगों के मन में अधिक भय उत्पन्न हो। अपराध की गंभीरता उस बात पर निर्भर होगी कि जिस अधिकार का उल्लंघन किया गया वह कितना महत्वपूर्ण है? इसी अनुपात में भय का संचार किया जाना चाहिए। दण्ड देने और उसके द्वारा भय उत्पन्न करने का उद्देश्य अपराध को सार्वजनिक बनाने से रोकना है। राज्य का कार्य नकारात्मक है, अतः दण्ड का प्रतिरोधात्मक सिद्धान्त ही सबसे अधिक उपर्युक्त है।

सुधारात्मक सिद्धान्त का उद्देश्यः-

अपराधी में सुधार करना होता है, क्योंकि सुधार भी अपराधों को रोकने में अत्यधिक सहायक होता है, अतः इस सिद्धान्त का प्रतिशोधात्मक सिद्धान्त के साथ सम्बन्ध है। जहाँ तक दण्डित व्यक्ति यह अनुभव करता है जो दण्ड उसे दिया गया है। उसका वह पात्र था और वह अपने कार्य से समाज-विरोधी रूप को समझकर तद्नुसार पश्चाताप करता है, वहॉ तक दण्ड का प्रभाव सुधारात्मक हो जाता है। स्पष्ट है कि दण्ड का सुधारात्मक प्रभाव उसके प्रतिरोधात्मक कार्य का ही सुकल है। इस प्रकार अपराधी अपराध करने की अपनी आदत से मुक्त हो जाता है । अपराधी में भी सुधार की क्षमता होती है। इसलिए ग्रीन मृत्यु दण्ड अथवा आजीवन कारावास को उचित नहीं मानता। म्त्युदण्ड केवल उन्हीं परिस्थितियों में दिया जाना चाहिए जब राज्य यह निश्चय कर ले कि अमुक व्यक्ति को मृत्यु दण्ड देना समाज हित की दृष्टि से उचित है और उस अपराधी में सुधार की कोई सम्भावना नहीं है। ग्रीन के शब्दों में, '' राज्य की दृष्टि पुण्य और पाप की नहीं बल्कि अधिकारों की रक्षा करने के लिये तथा गलती करने की भावना के साथ आवश्यक भय को सम्बद्ध करने के लिए।''

10.4.4 ग्रीन के विश्व बंधुत्व एवं युद्ध विषयक विचारः-

ग्रीन विश्व बंधुत्व एवं विश्व शान्ति के समर्थक है। उसकी विश्व -भ्रातृत्व की धारणा इस विचार पर आधारित है, कि प्रत्येक व्यक्ति को जीवित रहने का अधिकार है। वह युद्ध की निन्दा और विश्व शान्ति की प्रशंसा करता है, क्योंकि युद्ध एवं संघर्ष जीवन के अधिकार में बाधक है। जीवन के अधिकार पर आधारित अर्न्तराष्ट्रीय जाग्रति ही विश्व समाज का निर्माण करती है। ग्रीन के अनुसार मानवता के सामूहिक हित में व्यक्ति का हित निहित है, और इसलिए यह भी काण्ट की भॉति यह भी एक अन्तर्राष्ट्रीय समाज की स्थापना का समर्थक है और चाहता है कि वह समाज स्वतन्त्र राष्ट्रों की ऐच्छिक स्वीकृति पर आधारित हो। हीगल के सर्वथा विपरीत ग्रीन का विश्वास है कि राज्यों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय आचार संहिता संभव है, और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की धारणा कोरी कल्पना नहीं है। राष्ट्रीय ईर्श्याओं में कमी और युद्ध के गम्भीर कारणों के दूर हो जाने से ऐसे अर्न्तराष्ट्रीय न्यायालय का स्वप्न साकार हो सकता है, जिसकी शक्ति स्वतन्त्र राज्यों की स्वीकृति पर निर्भर हों। वर्ण अथवा रंगभेद की नीति विश्व शांति के लिए

घातक सिद्ध हो सकती है। ग्रीन के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय भ्रातृत्व का आशय है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों को पूरी मान्यता दी जाए, और क्षेत्रीय संप्रभुता की सीमा स्वीकार की जाए। बेयर के शब्दों में ग्रीन के सार्वभौम बन्धुत्व का अभिप्राय यह है कि ''यदि ग्रीन का राज्य अपने अन्तर्गत कम बड़े समाजों के अधिकारों की रक्षा करता है तो इसे अपने से बाहर बड़े समाजों के अधिकारों का सम्मान करना चाहिए। ''अर्थात् ग्रीन के अनुसार राज्य न तो पूर्ण है और न ही सर्वशक्तिमान। वह वाह्य तथा आन्तरिक दोनों रूपों में सीमित है।

युद्ध के प्रति ग्रीन के विचार हीगल से बिल्कुल अलग है। ग्रीन के मतानुसार, ''युद्ध कभी भी पूर्ण अधिकार नहीं हो सकता, अधिक से अधिक वह एक सापेक्ष अधिकार हो सकता है। युद्ध मनुष्य के स्वाधीन जीवन यापन के अधिकार का अतिक्रमण करता है। पहले की ;च्तमअपवनेद्ध किसी बुराई अथवा अपराध को सुधारने के लिए एक दूसरी बुराई के रूप में उसका औचित्य माना जा सकता है अर्थात युद्ध एक निर्दयी आवश्यकता के रूप में उचित माना जा सकता है, तथापि वह एक अपराध ही हैं।'' ग्रीन के अनुसार युद्ध एक नैतिक अपराध है। युद्ध कभी भी एक सही नहीं हो सकता। वह अपूर्ण राज्य का प्रतीक है।

ग्रीन उन सब तर्कों का खण्डन करता है, जो युद्ध के प़क्ष में दिये गए है। युद्ध के समर्थन में यह तर्क दिया जाता है कि सभ्य जातियों के बीच होने वाले युद्धों में सैनिक स्वेच्छापूर्वक मौत का खतरा स्वीकार करते है, और इसलिए स्वतन्त्र जीवन के अधिकार का अतिक्रमण नहीं होता। ग्रीन इस तर्क का खण्डन करता है। उनका कहना है कि व्यक्ति को इस बात का अधिकार नहीं है कि वह अपने जीवित रहने के अधिकार को चाहे तो कायम रखे ओर चाहे छोड़ दें। सेना में चाहे लोग अपने मन से भर्ती हुए हो या अनिवार्य भर्ती के आधार पर भर्ती हुए हो, पर राज्य कुछ लोगो पर जीवनक का खतरा बलात लादता है। युद्ध का मतलब है, मानव जीवन का संहार जो जानबूझकर किया जाता है। कभी-कभी युद्ध के समर्थक युद्ध के प़क्ष में यह तर्क देते है कि भौतिक जीवन का अधिकार का अतिक्रमण नैतिक जीवन की आवश्यकताओं से उत्पन्न अधिकार द्वारा किया जाता है। दूसरे शब्दों में कभी-कभी यह कहा जा सकता है कुछ विशेष परिस्थितियों में युद्ध न करना युद्ध करने से भी बुरा होता है। ग्रीन इस तर्क पर विश्वास नहीं करता। उसका कहना है कि इस तर्क के द्वारा केवल युद्ध भी जिम्मेदारी उन लोगों पर थोप दी जाती है जो उन परिस्थितियों के लिए जिम्मेदार थे, पर युद्ध तो फिर भी एक वैसी ही बुराई और अपराध बना रहता है। युद्ध में मानव जीवन का संहार करना अपराध है, अपराध करने वाले चाहे जो भी हो।

कुछ लोगों का मानना है कि युद्ध में मनुष्य के कुछ खास गुणों का विकास होता है जैसे वीरता और आत्म विश्वास का एवं युद्ध मानव प्रगति के लिए आवश्यक है। इस तर्क के दम को मानते हुए भी ग्रीन का कहना है कि युद्ध में जीवन का संहार हमेशा एक अपराध है। फ्रांस में सीजर के विजय अभियानों और भारत में अंग्रेजी युद्धों के बाद अवश्य ही लाभदायक परिवर्तन हुए, पर ग्रीन का कहना है कि यह परिवर्तन अन्य साधनों से भी ठीक उसी प्रकार लाए जा सकते है जैसें युद्ध द्वारा लाए गए। युद्ध मनुष्य के अधिकारों का अतिक्रमण करता है। यदि मनुष्य का अप्रत्यक्ष कल्याण केवल युद्ध द्वारा होता है तो इसका कारण मनुष्य की दुष्टता ही हैं। ग्रीन के अनुसार मानव जाति के कल्याण की उच्च मंशा को लेकर युद्ध प्रारम्भ नहीं किये जाते, मनुष्य जाति की सामान्य स्वार्थपरता ही युद्ध का कारण हैं।

अभ्यास प्रश्नः-प्र01. ग्रीन की मृत्यु के बाद उनके मुख्य शिष्य थे-

(क) आर0 एल0 नैटिलशिप (ख) हीगल
(ग) मिल (घ) वेयर

प्र02. ''राज्य का वास्तविक आधार बल नहीं है, वरन् इच्छा है ''यह किसका मत है।

(क) जान लॉक (ख) रूसो

(ग) ग्रीन (घ) मिल

प्र03. निम्नलिखित में से किस विचारक के बारें में यह कहा जाता है कि उसने आधुनिक लोक कल्याणकारी राज्य के सिद्धान्त का मार्ग प्रशस्त किया?

(क) स्पेन्सर (ख) टी.एच.ग्रीन

(ग) बैन्थम (घ) डायसी

10.5 सारांशः-

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप ग्रीन के अनुसार राजनीति का नैतिक आधार क्या है, जान गये होंगे। ग्रीन के स्वतन्त्रता संबंधी सिद्धान्त को भी भलीभांति समझ चुके होंगे।ग्रीन के अधिकार विषयक विचार का ज्ञान प्राप्त कर चुके होंगे। अधिकार, नैतिकता और कानून का संबंध किस प्रकार एक दूसरे से जुड़े है, इसको समझ गये होंगे। सामान्य इच्छा, जिसको ग्रीन सामान्य हित की सामान्य चेतना कहता है इसको भली भॉति जान गये होंगे।

ग्रीन के अनुसार राज्य के क्या कार्य है तथा क्या कार्य नहीं समझ चुके होंगे। दण्ड पर ग्रीन के विचारों से अवगत हो गये होंगे। ग्रीन के विश्व-बंधुत्व एवं युद्ध विषयक विचार को जान चुके होंगे। निष्कर्षत हम कह सकते है कि ग्रीन ने उदारवादी परंपरा को आदर्शवादी परंपरा के साथ जोड़कर उसे नकारात्मक सवतन्त्रता और संकीर्ण व्यक्तिवाद के दायरे से बाहर निकाला। ग्रीन के उदारवाद ने व्यक्तिगत अधिकारों और स्वतन्त्रताओं का खण्डन नहीं किया, बल्कि उसने स्वतन्त्रता के विचार को समानता और सामान्य हित की संकल्पनाओं के साथ जोड़ दिया। उसने राजनीतिक सहभागिता को नागरिकता का अनिवार्य लक्षण मानते हुए यह मांग की कि व्यक्ति को अपने जीवन में निरन्तर 'सामान्य हित' के प्रति सतर्क रहना चाहिए, और लोकतन्त्रीय राज्य को भी अपने लक्ष्य निर्धारित करते समय 'सामान्य हित' को सर्वोपरि स्थान देना चाहिए। इस तरह के विचार रखकर ग्रीन ने नकारात्मक उदारवाद को सकारात्मक उदारवाद की ओर ले जाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

10.6 शब्दावलीः-

प्रतिशोधात्मक	-	बदले की भावना से दिया जाने वाला दण्ड।
प्रतिरोधात्मक	-	दूसरों के मन में भय उत्पन्न करने हेतु कठोर दण्ड।
सुधारात्मक	-	अपराधी में सुधार हेतु दण्ड।

10.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

23.3 के वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर -

i. (ख) ii. (क) iii. (घ) iv. (ख)

104 के वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर रः-

i. (क) ii. (ग) , iii. (ख)

10.8 सन्दर्भ ग्रन्थः-

1.शर्मा, डॉ0 पी0डी0-आधुनिक राजदर्शन, कॉ-ऑपरेशन पब्लिकेशन्स, जयपुर, 2014

2.गाबा, ओम प्रकाश - राजनीति-चिंतन की रूपरेखा, मयूर पेपरबैक्स, नोयडा, 2006

3.गर्ग, सुषमा - पाश्चात्य राजनीतिक विचारक, अग्रवाल पब्लिकेशन्स, आगरा, 2014

4.जैन, पुखराज, जीवन मेहता- राजनीति विज्ञान, एस0 बी0पी0डी0 पब्लिकेशन्स आगरा,

10.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्रीः-

1.सेबाइन, राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड-2

2.शर्मा, डॉ0 प्रभुदत्त (सम्पादित एवं अनुवादक) - अभिनव राजनीतिक चिन्तन, साहित्यागार, जयपुर, 2013
3. Dunning- History of Polical Theories, Vol III
4. Barker- Political Thought in England.

10.10 निबन्धात्मक प्रश्नः-

1. ग्रीन के राजनीतिक विचारों का वर्णन कीजिए।
2. ग्रीन के अधिकार सम्बन्धी अवधारणा का वर्णन कीजिए।
3. ''राज्य का आधार शक्ति नहीं, इच्छा है'' ग्रीन के इस कथन की व्याख्या कीजिए।
4. ग्रीन के स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारों पर प्रकाश डालिए।

इकाई 11: ऑगस्ट कॉम्टे, हरबर्ट स्पेन्सर

इकाइयों की रूपरेखा

11.1 प्रस्तावना

11.2 उद्देश्य

11.3 ऑगस्ट कॉम्टे- जीवन परिचय

11.3.1 ज्ञान के विकास की तीन अवस्थाएं

11.3.2 विज्ञानों के श्रेणीतन्त्र

11.3.3 समाज विज्ञान का स्वरूप

11.3.4 प्रत्यक्ष सरकार का सिद्धान्त

11.4 हरबर्ट स्पेंसर - जीवन परिचय

11.4.1 सामाजिक विकास का सिद्धान्त

11.4.2.सामाजिक डार्विनवाद

11.4.3.स्पेन्सर के दर्शन का मूल्यांकन

11.5 सारांश

11.6 शब्दावली

11.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

11.8 संदर्भ ग्रन्थ

11.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

11.10 निबन्धात्मक प्रश्न

11.1. प्रस्तावनाः-

उन्नीसवीं सदीं के विज्ञानवाद ने भी उपयोगितावाद और आदर्शवादी चिंतन के समान ही राजदर्शन को व्यापक रूप से प्रभावित किया। यहाँ विज्ञानवाद से अभिप्राय वैज्ञानिक विचार पद्धति से नहीं होकर जीव-विज्ञान सम्बन्धी विचारधाराओं से है, जिनका प्रतिनिधित्व सेंट साइमन, आगस्त काम्टे, बेजहाट, हरबर्ट स्पेन्सर, ग्राह्म वैलास, हक्सले आदि विचारक थे। इनमें सेंट साइमन और आगस्ट काम्टे की विशेषकर काम्टे की प्रत्यक्षवादियों में, स्पेन्सर तथा हक्सले की जीवन-विज्ञानवादियों में तथा बेजहाट, वैलास और मैक्डूगल की मनोविज्ञानवादियों में गणना की जाती है। विज्ञानवादी दार्शनिकों ने मानव-जीवन की व्याख्या प्रकृतिक विज्ञान के रूप में करने का प्रयास किया। उन्होंने राजनीति को भिन्न दृष्टिकोणों से देखा। जैसे- हरबर्ट स्पेन्सर जीव शास्त्रीय व्याख्या का जनक था तो बेजहाट मनोवैज्ञानिक व्याख्या का अग्रदूत था। वस्तुतः विज्ञानवाद मानव-मूल्यों के प्रति एक आक्रामक लक्ष्य लेकर राजनीति में प्रविष्ट हुआ, किन्तु वह अपने प्रयत्न में अधिक सफल नहीं हुआ, क्योंकि अन्ततः उसे यह स्वीकार करना पड़ा कि मनुष्य एक प्राणी ही नहीं उससे भी ऊपर एक नैतिक-मानव है। अतः प्रकृतिक विज्ञान के नियमों को राजनीतिक घटनाओं के अध्ययन में ठीक-ठीक प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। विज्ञानवाद का सबसे गम्भीर दोष यह था कि इसने मानव-मूल्यों के प्रति उदासीनता प्रदर्शित की। प्रत्यक्षवाद ;च्वेपजपअपेउद्ध के प्रतिनिधि आगस्ट काम्टे, जीव विज्ञानवाद के प्रतिनिधि हरबर्ट स्पेन्सर है। इकाई के पूर्वार्द्ध में हम आगस्ट काम्टे के ज्ञान के विकास की अवस्थाए, विज्ञानों का श्रेणीतन्त्र व समाज विज्ञान का स्वरूप समझेंगे। वही इकाई के उत्तरार्ध में हरबर्ट स्पेन्सर के सामाजिक विकास का सिद्धान्त एवं सामाजिक डार्विनवाद समझेंगे।

11.2 उद्देश्यः-

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप-

- विज्ञानवाद एवं वैज्ञानिक समाजवाद के अर्थ को समझ सकेंगे।
- ऑगस्ट कॉम्टे के ज्ञान के विभिन्न अवस्थाओं को जान सकेंगे।
- ऑगस्ट कॉम्टे के विज्ञानों का श्रेणीतन्त्र को समझ सकेंगे।
- ऑगस्ट कॉम्टे के समाजविज्ञान के स्वरूप को जान सकेंगे।
- हरबर्ट स्पेन्सर के सामाजिक सिद्धान्त को भलीभॉति जान सकेंगे।
- हरबर्ट स्पेन्सर के सामाजिक डार्विनवाद को समझ सकेंगे।

11.3 ऑगस्ट कॉम्टे-जीवन परिचय

ऑगस्ट कॉम्टे का जन्म फ्रान्स के मांटपिलर नामक शहर में हुआ था। कॉम्टे का स्वभाव इतना विलक्षण था कि उसे अपने जीवन में दुःख भोगने पड़े। वह हठी प्रकृति का था और महत्वपूर्ण कार्यों तथा विचारों में किसी के साथ समझौता नहीं कर सकता था। कई वर्षों तक वह सेंट साइमन के सेकेट्री के रूप में काम किया और उसके विचारों से प्रभावित हुआ। कॉम्टे एक नवीन समाज के वैज्ञानिक आधारों के खोज कार्य में लगा रहा, क्योंकि उसे विश्वास था कि जब लोग इन आधारों को एक बार समझ सकेंगे, तो वे उसकी नवीन व्यवस्था को स्वीकार कर लेंगे। 1824 से 1842 के बीच वह इस वृहद कार्य में लगा रहा और उसके अथक परिश्रम के फलस्वरूप Course of Positive Philosophy' के छह भाग प्रकाश में आये। कॉम्टे की अन्य महत्वपूर्ण राजनीतिक रचनाओं में System of Positive Philosophy'(1851.54) तथा Catechism of Positivism'(1852) उल्लेखनीय है कॉम्टे में औद्योगिक प्रगति और वैज्ञानिक क्रान्ति के प्रति अत्यधिक आशावाद था। उसे विश्वास था कि औद्योगिक तथा वैज्ञानिक विकास के फलस्वरूप एक नवीन और वैज्ञानिक ईसाइयत का उदय होगा और ज्यों-ज्यों औद्योगिक विकास अपनी पूर्णता को प्राप्त होगा त्यों-त्यों मानव विकास भी पूर्णता प्राप्त करता जायेगा। प्राचीन मान्यताओं और परंपराओं के स्थान पर नवीन मूल्य जन्म लेंगे और एक नए समाज की रचना होगी। ऑगस्ट कॉम्टे प्रसिद्ध फ्रासीसी दार्शनिक एवं सामाजिक वैज्ञानिक था। समाज विज्ञान (या समाजशास्त्र) शब्द का आविष्कार का श्रेय कॉम्टे को ही है। अतः उसे 'आधुनिक समाजविज्ञान का जनक' माना जाता है-

11.3.1 ज्ञान के विकास की तीन अवस्थाएं-

कॉम्टे के अनुसार एक विज्ञान के रूप में समाज विज्ञान का विकास मानवीय चिंतन के सामान्य विकास का परिणाम है। कॉम्टे की प्रसिद्ध कृति 'द पाजिटिव फिलासफी (1830-1842) के अनुसार, मानवीय ज्ञान की प्रत्येक शाखा को अपनी प्रौढ़ावस्था तक पहुचनें से पहले तीन सैद्धान्तिक या पद्धति वैज्ञानिक अवस्थाओं से गुजरना होता है। ये अवस्थाए है-

1.धर्ममीमांसीय अवस्था Theolosical Stage इसमें सब घटनाओं की व्याख्या अलौकिक Supernatural या आध्यात्मिक शक्तियों (Spiritual Forces) के सन्दर्भ में दी जाती हैः यह ज्ञान की आरंभिक अवस्था है। वस्तुतः इस अवस्था में ज्ञान की जगह अंधविश्वास (Superstition) की प्रधानता रहती है।

2.तत्वमीमांसीय अवस्थाः- (Metaphysical Stage) इसमें सब घटनाओं की व्याख्या अमूर्त तत्वों (Abstract Elements) और अनुमान (Conjecture) के आधार पर दी जाती है। यह ज्ञान की मध्यवर्ती अवस्था है। यह नकारात्मक अवस्था है, जिसका अपना ऐतिहासिक महत्व है। इसमें सामाजिक जीवन एवं संसार के बारें में पुरानी संकल्पनाओं की आलोचना करके उन्हें ध्वस्त किया जाता है। यह अवस्था सकारात्मक दर्शन (Positive Phylosophy) या प्रत्यक्षवाद (Positivism) की स्थापना के लिये आवश्यक भूमिका तैयार करती है, क्योंकि नई व्यवस्था की स्थापना के लिये पुरानी अवस्था के अवशेषों को मिटाना जरूरी होता है।

3.वैज्ञानिक-सकारात्मक अवस्था ;(Scientific Positive Stage) इसमें यह मानते है कि सारी घटनाएं निर्विकार प्रकृतिक नियमों से बँधी है। निरीक्षण (Observation) और प्रयोग क्रिया (Experimentation) की सहायता से इन नियमों का पता लगा सकते है। इस पद्धति के अन्तर्गत यर्थाथ कार्य-कारण संबन्धों का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। कॉम्टे के अनुसार विज्ञान और दर्शन एक ही श्रेणी का ज्ञान है जिसे धर्ममीमांसा और तत्वमीमांसा से पृथक करके

पहचान सकते है। फिर धर्ममीमांसा और विज्ञान एक दूसरे से इतने भिन्न है कि इनके बीच की दूरी तय करने के लिये तत्वमीमांसा के पुल को पार करना जरूरी है। इसके अलावा, विज्ञान का सरोकार केवल तथ्यों के ज्ञान से नहीं है; वह मूल्यों का ज्ञान भी प्रदान करता है। दूसरे शब्दों में; 'सत्य' का ज्ञान होने पर 'कर्तव्य' का ज्ञान अपने आप प्रकट होता है। इस दृष्टि से कॉम्टे का विचार सुकरात की परंपरा को आगे बढ़ाता है।

कॉम्टे ने मानव-समाज के विकास के इतिहास की अपनी व्याख्या को ही प्रत्यक्षवाद ;च्वेपजपअपेउद्ध कहा है और अपनी समझ और कल्पना के अनुसार ही नियमों, शक्तियों और अवस्थाओं को प्रस्तुत किया जिनमें होकर मानव-विकास आगे बढ़ता है। कॉम्टे ने यह मत व्यक्त किया कि 'प्रत्यक्ष सरकार' मानव विकास की अन्तिम व्यवस्था होगी और जितना जल्दी हम इस अवस्था को प्राप्त कर लेंगे उतनी ही जल्दी धार्मिक और आधिभौतिक अन्धविश्वासों की समाप्ति होकर मानव-मन वैज्ञानिक ढंग से सोचने की प्रक्रिया अपना लेगा। कॉम्टे का कहना है कि यद्यपि विकास में तीनों अवस्थाएं अवश्य है तथापि मनुष्य अपने प्रयत्नों से उनके समय को कम कर सकता है। कॉम्टे का यह विचार मनुष्य को 'विकास का नियन्ता' बना देता है।

24.3.2 विज्ञानों का श्रेणीतन्त्रः-

कॉम्टे के अनुसार, भिन्न-भिन्न विज्ञानों- चाहे वे प्रकृतिक विज्ञान हो या सामाजिक विज्ञान हो-एक ही ढंग से विकसित होते है। परन्तु सब विज्ञानों का विषय-वस्तु एक जितनी जटिल नहीं होती, अतः भिन्न-भिन्न विज्ञान भिन्न-भिन्न समय पर अपनी प्रौढ़ावस्था में पहुचते है। इस तरह भिन्न भिन्न विज्ञान एक नैसर्गिक और तर्कसंगत क्रम से विकसित होते है। सबसे पहले वह विज्ञान विकसित होता है। (क) जो सबसे कम जटिल हो या जिसका सरोकार सबसे सामान्य घटनाओं से हों, और (ख) जो मानव प्रकृति के ज्ञान से अत्यन्त दूर हो। सबसे अंत में वह विज्ञान विकसित होता है। (क) जो सबसे अधिक जटिल हो, और (ख) जो मानव प्रकृति के ज्ञान से अत्यन्त निकट हो। इस आधार पर कॉम्टे ने समस्त विज्ञानों को एक विकास-क्रम के अनुसार व्यवस्थित किया है जिसे 'विज्ञानों का श्रेणीतंत्र' कहा जाता है।

'विज्ञानों के श्रेणीतंत्र' की बुनियाद गणित है। गणित अन्य विज्ञानों से भिन्न है क्योंकि (क) इसका सरोकार अत्यन्त सामान्य और अमूर्त विषयों से है; (ख) यह सब विज्ञानों से महत्वपूर्ण है और विज्ञान एवं दर्शन का आधार प्रस्तुत करता है; और (ग) इसमें शुरू से ही वैज्ञानिक-सकारात्मक पद्धति का अनुसरण किया जाता है, अतः इसे अपनी प्रौढ़ावस्था तक पहुचने के लिए ज्ञान के विकास की तीन अवस्थाओं से नहीं गुजरना पड़ता , जैसा कि अन्य सब विज्ञानों को गुजरना पड़ता है। इसके बाद जैसे-जैसे इस श्रेणीतंत्र में आगे बढ़ते है, (क) प्रत्येक विज्ञान की विषय-वस्तु अधिक जटिल होती जाती है, (ख) उसमें वैज्ञानिक पद्धति का निर्वाह अधिक कठिन हो जाता है; और (ग) मानव प्रकृति के ज्ञान से उसका

सरोकार बढ़ता जाता है। इस दृष्टि से कॉम्टे ने विज्ञानों के श्रेणीतन्त्र का यह क्रम निर्धारित किया-

1. गणित ,2. ज्योतिर्विज्ञान ,3. भौतिक विज्ञान ,4. रसायन विज्ञान ,5. शरीर क्रिया विज्ञान , और6. समाज विज्ञान

कॉम्टे का विश्वास है कि इस क्रम में बढ़ती हुई कठिनता के बावजूद प्रत्येक विज्ञान को वैज्ञानिक-सकारात्मक स्तर पर लाया जा सकता है। इस दृष्टि से प्रत्येक परवर्ती विज्ञान को अपने पूर्ववर्ती विज्ञान के स्तर पर लाने का प्रयत्न करना चाहिए, और यह प्रयत्न तब तक जारी रखना चाहिए जब तक समाजविज्ञान भी गणित जितनी यथातथ्यता के स्तर पर न आ जाए।

11.3.3. समाजविज्ञान का स्वरूप- कॉम्टे ने समस्त सामाजिक विज्ञानों को एक ही सर्वव्यापक विज्ञान 'समाजविज्ञान' के दायरे में रखा है। उसने अपने 'विज्ञानों के क्षेत्रीतंत्र' के अन्तर्गत मनोविज्ञान को कोई स्थान नहीं दिया है, क्योंकि उसके विचार से उन दिनों मनोविज्ञान 'तत्वमीमांसीय अवस्था' से आगे नहीं बढ़ पाया था। समाज विज्ञान के अन्तर्गत काम्टे ने 'व्यवस्था' (*order)* और 'प्रगति' (*Progress*) की समस्याओं के उपयुक्त अध्ययन के लिये 'सामाजिक स्थिति-विज्ञान' (*Social Statics*) और सामाजिक गति विज्ञान (*Social Dynamics*) में विश्लेषणात्मक अंतर पर बल दिया। काम्टे के प्रत्यक्षवाद का अभिप्राय केवल यह नहीं था कि मानव-प्रकृति और समाज का ज्ञान प्राप्त करने के लिये प्रकृतिक विज्ञानों की पद्धति को अपनाया जाना चाहिए। उसका दावा था कि ऐसा समाजविज्ञान सामाजिक संगठन के लिये उपयुक्त मूल्यों की सूझ-बूझ प्रदान करेगा, और सामाजिक समस्याओं के सामाधान के लिये मार्गदर्शन भी देगा। इस आधार पर कॉम्टे ने एक नई समाज-व्यवस्था की रूपरेखा प्रस्तुत की जो नैतिक भावना से प्रेरित थी। इसका प्रमुख सिद्धान्त 'मानव धर्म') था।

काम्टे ने अपना समाजविज्ञान तत्कालीन यूरोप के चिरकालीन सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक संकट के वैज्ञानिक प्रतिकार के रूप में विकसित किया। इन समस्यओं के समाधान के लिये रूढ़िवादी विचारक 'व्यवस्था' पर बल दे रहे थे, और जैकोबिन मतावलंबी 'प्रगति' का झंडा उठाकर चल रहे थे। इस विवाद का परिणाम बौद्धिक अराजकतावाद के रूप में सामने आया था। कॉम्टे ने अपनी विचार-प्रणाली के अन्तर्गत इन दोनो विचारधाराओं में समन्वय का प्रयत्न किया।

11.3.4. प्रत्यक्ष सरकार का सिद्धान्त:

कॉम्टे का प्रत्यक्षवादी सरकार का सिद्धान्त इस विश्वास पर आधारित है कि औद्योगिक तथा उसका सहायक वैज्ञानिक वर्ग ही मानवता को पूर्णतः प्रदान कर सकेगा और आदिकाल से मानव-जाति का विकास इसी वर्ग को जन्म देने के लिए होता रहा है। कॉम्टे की प्रत्यक्षवादी सरकार का संक्षेप में अर्थ है- बैंकरों का अधिनायकवाद जिसे स्त्रियों के प्रभाव से नैतिक बनाया जाता था। तथा मानवता के नवीन धर्म के पुरोहित का अधिनायकवाद जिसका उद्देश्य परम्परागत विश्वासों का स्थान लेना था। मानवता के नवीन धर्म से अभिप्राय ईश्वर की पूजा नहीं है, बल्कि मानवीय उपलब्धियां है। और पुरोहित तत्व से वास्तविक आशय कुशल समाजशास्त्रियों से है। कॉम्टे के अनुसार समाज के सम्पूर्ण विकास और कल्याण के लिए यह आवश्यक है कि शासन सत्ता बैंकरों के हाथ में आ जाये और वे ही सम्पूर्ण राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था का निरंकुशता के साथ नियन्त्रण करें। बैंकरों या पूंजीपतियों को निरंकुश शासन इसलिए अपेक्षित है, क्योंकि समाज में जो कुछ विकास हुआ वह उद्योगपतियों और वैज्ञानिकों के कारण हुआ है। वैज्ञानिकों ने जो नये विचार प्रस्तुत किए, उद्योगपतियों ने अपनी पूंजी द्वारा उन विचारों को कार्य रूप दिया, इसलिए पूंजीवादी वर्ग को समाज में सर्वप्रथम स्थान दिया जाना चाहिए और यह भार उन्हीं पर डाला जाना चाहिए कि वे सम्पूर्ण आर्थिक स्थिति का नियन्त्रण अपने हाथ में लेकर आर्थिक तथा राजनीतिक योजनाओं का निर्माण करें। कॉम्टे के अनुसार सरकार विशुद्ध ; और गणित तथा नक्षत्र विद्या की तरह सही होनी चाहिए और यह भी तभी सम्भव है जबकि व्यापारी और हिसाबी बुद्धि वाले व्यक्ति ही शासन व्यवस्था संभाले। राज्य की आबादी, पूँजी , सहयोग, श्रम, कानून, दण्ड आदि बिल्कुल नपे-तुले होने चाहिए अर्थात यह आवश्यक है कि नवीन प्रत्यक्षवादी व्यवस्था में प्रत्येक चीज सुनियोजित और व्यवस्थित तथा सही और सिद्धान्त के अनुकूल हों। बैंक मालिकों का निरंकुश शासन होना चाहिए, और इन बैंकरों या पूंजीवादी वर्ग की सदस्यों में इन तीनों को सर्वोच्च स्थान प्राप्त होना चाहिए-एक कृषि बैंकर, दूसरा उद्योग बैंकर, तीसरा उत्पादन बैंकर। इन तीन प्रधान शाखाओं की अधीनता में अन्य बैंको और सम्पूर्ण आर्थिक स्थिति को सुनियोजित और नियन्त्रित करने के लिए

एक गणतन्त्र में कुल तीस बैंक होने चाहिए। कॉम्टे यह भी विचित्र व्यवस्था देता है कि इन बैंकरों के निरंकुश शासन को नैतिक बनाने के लिए अथवा नैतिकता के स्तर पर लाने के लिए और तो और समाजशास्त्रियों (कॉम्टे ने पुरोहितों की संज्ञा दी है) का सम्पर्क अनिवार्य है। औरतों के सम्पर्क में बैंकरों में उदारता और नैतिकता की भावना जाग्रत होती रहेगी, और समाज शास्त्रियों का भी निरंकुश बैंकरों पर प्रभाव पड़ेगा, क्योंकि वे समाज के नियमों के कुशल ज्ञाता होंगे। बैंकरों के दिल ओर दिमाग को शान्त रखने में और तो और पुरोहितों अथवा समाज शास्त्रियों की सेवाओं की महती भूमिका होगी।

कॉम्टे ने अपने प्रत्यक्षवादी राज्य की बड़ी रोचक और गणितीय रूपरेखा दी है। विस्तृत सीमाओं और विशालकाय आबादी वाले राज्यों का ठीक-ठीक प्रबन्ध नहीं किया जा सकता। कॉम्टे की नयी व्यवस्था में एक राज्य की आबादी सामान्यतः 10 लाख से 30 लाख के बीच होनी चाहिए। ब्रिटेन, फ्रांस, स्पेन, जर्मनी तथा इटली राज्यों को 17 गणराज्यों में विभक्त कर देना चाहिए, और अकेले फ्रांस को ही 17 राज्यों में विभाजित कर दिया जाना चाहिए था। कॉम्टे के अनुसार इन राज्यों में अव्यवस्था इसलिए रही होगी, क्योंकि सीमा और आबादी की दृष्टि से ये विशाल थे। कॉम्टे की योजना के अनुसार संसार में कुल 500 राज्य होने चाहिए, और प्रत्येक राज्य की जनसंख्या दो प्रमुख वर्गो अभिजात वर्गो और श्रमिक वर्ग में विभक्त कर देना चाहिए। जिसमें अभिजात वर्ग को श्रमिक वर्ग या सामान्य वर्ग पर नियन्त्रण रखना होगा। अभिजात वर्ग में सर्वप्रथम स्थान बैंक मालिकों का होना चाहिए। अभिजातीय लोगों की संख्या कुल जनसंख्या की 1/30 होनी चाहिए। जनसंख्या का विभाजन इस तरह होना चाहिए कि प्रत्येक अभिजातीय परिवार में 13 व्यक्ति और प्रत्येक श्रमिक परिवार में 7 व्यक्ति हों। कॉम्टे के अनुसार प्रत्यक्षवादी राज्य की नवीन व्यवस्था में कुल तीन वर्ग होंगे- कृषक वर्ग, उत्पादक वर्ग, और औद्योगिक वर्ग तथा इन तीनों वर्गों में अलग-अलग अभिजातीय और श्रमिकों के पुनः दो-दो वर्ग होने चाहिए। गणितीय आधार पर कॉम्टे ने बताया कि एक अभिजात 35 श्रमिकों का, एक औद्योगिक अभिजात 60 श्रमिकों का और एक उत्पादक अभिजात 70 श्रमिकों पर नियन्त्रण रख सकता है।

कॉम्टे अपनी प्रत्यक्षवादी व्यवस्था में अधिकारों के स्थान पर कर्तव्यों पर जोर देता है। उसने प्रकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त, समझौता सिद्धान्त, शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त, जनमत द्वारा समर्थित संविधान आदि का उपहास किया है और कहा है कि सरकार का सही मूल्यांकन इस बात पर निर्भर नहीं है कि वह किस प्रकार के सिद्धान्त पर चलती है बल्कि इस बात पर निर्भर है कि समाज की सही-सही सामान्य स्थिति के निर्माण में उसका क्या हाथ है। एक वैज्ञानिक सभ्यता के निर्माण में उसका क्या योगदान है? श्रम विभाजन और प्रयत्नों के संकलन-इन दोनों के समुचित सामंजस्य में ही सरकार का आदर्श स्वरूप सन्निहित हैं। कॉम्टे 'शक्ति' को महत्वपूर्ण स्थान देते हुए मानता है कि शक्ति प्रत्येक मानव-समाज और राज्य का आधार है। इस मान्यता में वह हॉब्स के निकट पहुंचता है जिसके अनुसार जो सरकार शक्ति को अपना आधार नहीं बनाती, वह काल्पनिक है।

कॉम्टे के आलोचक उसे नितांत कल्पनावादी और साथ ही अव्यवहारिक विचारक मानते है। कॉम्टे की योजना में औद्योगिक सामन्तवाद, पूंजीवादी अधिनायकवाद, अत्यधिक भौतिक सुखवाद की छाप दिखाई पड़ती है, यदि लंकास्टर की आलोचना के अनुसार कॉम्टे का प्रत्यक्षवाद 'लेसेजफेयर'के सिद्धान्त का पूरक दिखाई देता है, जिसमें शासकों अथवा राजाओं के सिंहासन पर बैंकरों और उद्योगपतियों को बिठा दिया गया है, सर्वोच्च धर्मगुरू पोप की गद्दी पर शायद कॉम्टे स्वयं बैठना चाहता है, राजधानी भी शायद अपने घर को ही बनाना चाहता है, विषयों का स्थान अपने शिष्यों को देना चाहता है और सामन्तों का स्थान छोटे-बड़े दूसरे बैंकरों को प्रदान करने का इच्छुक है। इस तरह ऐसा लगता है मानो कॉम्टे का राज्य उसका खुद का परिवार है।

डनिंग ने राजदर्शन के क्षेत्र में प्राणिशास्त्रियों के सिद्धान्तों की तुलना में कॉम्टे का योगदान स्वीकार किया। हरबर्ट स्पेन्सर और अनेक प्राणिशास्त्री कॉम्टे से प्रभावित है। मैक्सी के अनुसार सेंट साइमन के विचारों की तरह कॉम्टे के विचारों में भी कुछ सार्वभौमिक तत्व के दर्शन होते है। कॉम्टे के प्रत्यक्षवाद ने 19वीं सदी की राजनीतिक विचारधाराओं को बहुत प्रभावित किया तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विकास से शक्ति के संचार का काम किया। कॉम्टे के समाज के विकास संबंधी विचार तथा सरकार और राज्य के संचालन के लिए 'शक्ति' की महत्ता संबन्धी विचार बड़े महत्व के है।

अभ्यास प्रश्नः

प्र01. 'आधुनिक समाज विज्ञान का जनक' किसे कहा जाता है-

(क) हरबर्ट स्पेन्सर (ख) लास्की (ग) आगस्ट कॉम्टे (घ) हक्सले

प्र02. पॉजिटिव फिलासफी किसकी रचना है-

(क) ग्राह्म वालास (ख) हरबर्ट स्पेन्सर (ग) बेजहाट (घ) ऑगस्ट कॉम्टे

प्र03. प्रत्यक्षवाद का सिद्धान्त किससे सम्बन्धित है-

(क) ऑगस्ट कॉम्टे (ख) ग्रीन (ग) बेंथम (घ) हरबर्ट स्पेन्सर

11.4 हरबर्ट स्पेन्सर-जीवन परिचयः-

हरबर्ट स्पेंसर का जन्म 27 अप्रैल, 1820 को ब्रिटेन में हुआ। उसका जीवन निराला था। उसने जीवन में कभी प्रेम नहीं किया और न कभी विवाह ही किया। 1848 में वह सुप्रसिद्ध पत्रिका *Economist* के उप-सम्पादक के पद पर नियुक्त हुआ। इस सुविख्यात पत्रिका में उस समय के कुछ प्रसिद्ध और महत्वपूर्ण व्यक्तियों की रचनाएं प्रकाशित होती थी, अतः स्पेंसर को हक्सले, टिण्डाल, न्यूमेन और इलिएट जैसे महान प्रतिभाशाली व्यक्तियों के संपर्क में आने का सुअवसर प्राप्त हुआ। उनके साथ विचार विमर्श से उसके जिज्ञाषु मस्तिष्क को बहुत प्रेरणा मिली।

अंग्रेज विचारक हरबर्ट स्पेंसर ने अपने अध्ययन के आधार पर यह पाया कि शुरू-शुरू में सामाजिक जीवन कठोर अनुशासन में बंधा होता है। विकास की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप व्यक्ति स्वतन्त्र हो जाता है। इस स्वतन्त्रता का अन्तिम लक्ष्य वह स्थिति है जिसमें राज्य की कोई आवश्यकता नही रह जायेगी। स्पेंसर ने इस स्थिति को 'अराजकता के वरदान की संज्ञा दी है। स्पेंसर के अनुसार व्यक्ति की स्वतन्त्रता मुक्त प्रतियोगिता की मांग करती है जो समाज को प्रगति की ओर ले जायेगी। अतः प्रगति के लिए समाज में इति प्रतियोगिता को बढ़ावा देना जरूरी है, जिसमें 'योग्यतम की विजय' होती है। यदि हम ऐसी नीति अपनाते है जिसमें योग्य व्यक्तियों के अधिकारों में कटौती करके अयोग्य व्यक्तियों को संरक्षण प्रदान किया जाता है तो यह नीति प्रगति के विरूद्ध होगी जो समाज को अधोगति की ओर ले जायेगी।

स्पेन्सर ने 17 से अधिक ग्रन्थ एवं लेख लिखे। हरबर्ट स्पेंसर के राजनीतिक विचार मुख्यतः उनके ग्रन्थों *Social Statistics, Man Versus State, The Proper Sphere of Government and & Principles of Sociology* में मिलते है। हरबर्ट स्पेन्सर उन्नीसवी शताब्दी का ब्रिटिश दार्शनिक और सामाजिक सिद्धान्तकार था जिसने सामाजिक विकासवाद के सिद्धान्त में महत्वपूर्ण योगदान दिया। 1903 ई0 में ब्राइटन (इग्लैण्ड) में उसका देहावसान हो गया।

11.4.1 सामाजिक विकास का सिद्धान्तः-

स्पेंसर जीवन पर्यन्त व्यक्ति के अधिकारों और यद्भाव्य की ; *Laissez faire* की नीति का प्रबल समर्थक रहा, पर साथ ही समाज की सावयवी धारणा के प्रति भी उसके मन में गहरी आस्था रही। जिस तरह हॉब्स ने सामाजिक समझौता सिद्धान्त का राजाओं के निरंकुशवाद का समर्थन करने के लिए चातुर्यपूर्ण प्रयोग किया था, ठीक उसी प्रकार स्पेंसर ने विश्व विकास और सामाजिक सावयव की धारणा की सहायता से रेडिकलवाद अथवा व्यक्ति के प्रकृतिक अधिकारों का समर्थन करने का प्रयत्न किया।

स्पेंसर की पहली कृति 'सोशल स्टेटिक्स' (सामाजिक स्थिति विज्ञान) (1850) चार्ल्स डार्विन की 'ओरिजन ऑफ स्पीशीज' (जीव-जातियों की उत्पत्ति' (1859) से नौ वर्ष पहले प्रकाशित हुई। इस तरह स्पेंसर ने अपना विकासवादी सिद्धान्त डार्विन से भी पहले रखा था। 'योग्यतम की विजय' (*Survival of the fittest*) शब्दावली स्पेन्सर का आविष्कार थी। हालांकि यह डार्विन के नाम के साथ जुड़कर प्रसिद्ध हुई। स्पेन्सर ने यह मान्यता रखी कि सामाजिक विकास का स्वरूप प्रकृतिक विकास से मिलता-जुलता है। वह मुख्यतः जीव-विज्ञान ;ठपवसवहलद्ध के नियमों के अनुरूप विकासवादी दर्शन के निर्माण की ओर अग्रसर हुआ।

'सोशल स्टेटिक्स' के अन्तर्गत स्पेंसर ने जीववैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर नैतिक नियमों तक पहुचने का प्रयत्न किया। उसने समान स्वतन्त्रता के नियम के आधार पर प्रकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। उसने तर्क दिया कि प्रकृतिक अधिकार मनुष्यों को दूसरों के विरूद्ध अपनी क्षमताओं का प्रयोग करने से रोकते है। उसने लिखा कि मनुष्यों में 'अनुकूलन-क्षमताएं' पाई जाती है। अधिकांश सामाजिक विपत्तियों का कारण हैः व्यक्तिगत स्वतन्त्रता ;च्मतेवदंस स्पइमतजलद्ध पर विषमतामूलक प्रतिबंध और प्रकृतिक संसाधनों का निजी स्वामित्व जिन पर सब मनुष्यों का समान अधिकार होना चाहिए।

अपनी दूसरी महत्वपूर्ण कृति 'प्रिसिपल्स ऑफ सोशियोलॉजी (समाज विज्ञान के मूल सिद्धान्त) (1867) के अन्तर्गत स्पेन्सर ने तर्क दिया कि सामाजिक जीवन में विकास की स्वाभाविक प्रवृत्ति पायी जाती है। आरम्भ में समाज व्यवस्था के रूप में बहुत सरल होते है, परन्तु आगे चलकर उसके जटिल रूप विकसित हो जाते है, और उसमें विविधता आ जाती है।

' द मैन वर्सेज द स्टेट' (मनुष्य बनाम राज्य 1884) के अन्तर्गत स्पेन्सर ने अहस्तक्षेप के सिद्धान्त की जोरदार पैरवी की। उसने आंगिक सादृश्य (*Organic Anology*) के आधार पर सामाजिक संरचनाओं और कृत्यों के विकास का विवरण प्रस्तुत किया। उसने लिखा कि जैसे जीव वैज्ञानिक विकास 'विभेदीकरण और संयोजन' के नियम (*Law of Differentiation and Integration*) से निर्धारित होता है, उसी तरह समाज व्यवस्था भी असंगत समरूपता से सुसंगत विषमरूपता की ओर अग्रसर होती है। मतलब यह है कि शुरू-शुरू में समाज व्यवस्था के भिन्न-भिन्न अंग स्पष्ट नहीं होते, परन्तु बाद में उसके भिन्न-भिन्न अंग अस्पष्ट होने लगते, और वे एक ही लक्ष्य की पूर्ति के लिए भिन्न-भिन्न कार्य सम्पन्न करने लगते है। स्पेन्सर के अनुसार सामाजिक परिवर्तन समाज व्यवस्था को 'सैनिक समाज' से 'औद्योगिक समाज' की ओर ले जाता है। सैनिक समाज में सारा संयोजन एक ही नियन्त्रण केन्द्र से सम्पन्न होता है। जैसा कि सेना के संगठन में देखने को मिलता है। इसके विपरीत, औद्योगिक समाज की व्यवस्था विभिन्न व्यक्तियों के सहज स्वाभाविक सहयोग का परिणाम होती है जैसा कि बाजार के प्रतिरूप से प्रकट होता है।

स्पेन्सर के अनुसार जिस प्रकार शरीर सावयवों से बना हुआ है, जो उसे जीवन प्रदान करते है, उसी प्रकार राज्य का निर्माण भी व्यक्तियों से होता है, जिनसे उसे जीवन प्राप्त होता है। ''श्रमिक जो कृषि करते है, खानों में काम करते है,

कारखानों में काम करते है और जो घरों में काम करते है, समाज के तत्व है। थोक विक्रेता, फुटकर विक्रेता, महाजन, रेल तथा जहाज रानी आदि में काम करने वाले व्यक्ति इस शरीर की मांसपेशियों वाले अंग का काम करते है। व्यावसायिक जन तथा डॉक्टर, वकील, इंजीनियर, शासक, पादरी आदि इस शरीर के मस्तिष्क तथा नाड़ी संस्थान का काम करते है। इस प्रकार समाज या राज्य का संगठन एक मानव शरीर के समान है।'' शारीरिक स्वास्थ्य शरीर के सावयव अथवा अंगों पर निर्भर होता है। यदि किसी भी सावयव में कोई रोग हो जाता है, तो सारे शरीर को कष्ट उठाना पड़ता है। इसी भॉति राज्य का स्वास्थ्य नागरिकों के स्वास्थ्य पर निर्भर है। नागरिको द्वारा कर्तव्य पालन के अभाव में सम्पूर्ण राज्य को हानि होती है। जिस प्रकार किसी अंग के निर्बल अथवा बीमार होने से उसका प्रभाव सम्पूर्ण शरीर पर पड़ता है, ठीक उसी प्रकार यदि राज्य के नागरिक अस्वस्थ अथवा अशिक्षित होते है, अथवा व्यक्तिगत स्वार्थों से परिपूर्ण होते है, तो समूचे राज्य के हितों पर उसका प्रभाव पड़ता है।

11.4.2 सामाजिक डार्विनवादः-

स्पेन्सर के चिंतन को सामाजिक डार्विनवाद की मुख्य अभिव्यक्ति माना जाता है। उसने प्रकृतिक विज्ञान के नियमों के आधार पर नैतिकता ;डवतंसपजलद्ध के निर्माण का प्रयत्न किया। परन्तु उसके निष्कर्ष सर्वथा अनैतिक और अमानवीय सिद्ध हुए। उसने प्रकृतिक चयन के नियम को सामाजिक प्रगति की प्रक्रिया पर लागू करते हुए यह तर्क दिया कि कम योग्य व्यक्तियों को अधिक योग्य व्यक्तियों के हित में अपने हितों का बलिदान कर देना चाहिए। 'योग्यतम की विजय' का नियम यह मांग करता है कि प्रगति की प्रक्रिया को अयोग्य और निकम्मे लोगो के प्रभाव से मुक्त रखा जाना चाहिए, क्योंकि योग्य और परिश्रमी लोंगो का हक छीन कर अयोग्य और निकम्मे लोगो का पालन करने का अर्थ होगा, प्रगति की शक्तियों को कुंठित करना। इस तर्क के आधार पर स्पेंसर ने सब तरह के कल्याण कार्यक्रमों (*Welfare Programmes*) का खण्डन किया। इसी आधार पर उसने मताधिकार के विस्तार (*Suffrage Extension*) का विरोध किया क्योंकि वह अनावश्यक विधि-निर्माण को बढ़ावा देगा। उसने तर्क दिया कि कानून के द्वारा समाज के दुर्बल अंगों के पुष्टि से समाज के स्वाभाविक विकास में रूकावट पैदा होगी। एक वैज्ञानिक होने के कारण स्पेंसर ने यह मत व्यक्त किया कि विश्व में एक नियमित एवं निश्चित विकासवादी सिद्धान्त कार्य करता है और उसी के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपनी मौलिकता के विकास का पूर्ण व्यक्तित्व की प्राप्ति करता है। उसकी यह दृढ़ मान्यता थी कि परिवर्तन और विकास की प्रक्रिया संसार की प्रत्येक वस्तु को प्रभावित करती है।

11.4.3 स्पेन्सर के दर्शन का मूल्यांकनः-

यद्यपि स्पेन्सर का दर्शन अत्यन्त गम्भीर और व्यापक था तथापि वह अनेक त्रुटियों और असंगतियों से परिपूर्ण है। स्पेन्सर का दर्शन व्यवस्थित तथा संश्लिष्ट नहीं है। एक ओर तो स्पेंसर उग्रतम व्यक्तिवाद का समर्थन करता है, तो दूसरी ओर विकास सिद्धान्त का समर्थन करते हुए सामाजिक सावयव के सिद्धान्त की बात करता है। एक ही प्रणाली में इन दो विरोधी धारणाओं को संयुक्त कर देना असम्भव है। पुनः स्पेन्सर की यह मान्यता है कि संसार में एक विकास क्रम कार्य करता है और समाज का कोई भी रूप अन्तिम नहीं हो सकता। वह निरन्तर विकसित होता रहेगा, किन्तु आगे चलकर यह मानने लगता है कि एक आदर्श समाज में राज्य नहीं रहेगा और समाज एक पूर्ण एवं अंतिम स्थिति प्राप्त कर लेगा। यर्थाथ में ये दोनों ही परस्पर विरोधी है और स्पेंसर इनकी संगति के लिए कोई बुद्धिसंगत तर्क नहीं देता। स्पेंसर की अन्तिम सन्तुलन (जहॉ पर विकास की प्रक्रिया रूक जाती है) की धारणा आधुनिक विज्ञान को अमान्य हैं। विकास एक निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है। इनमें प्रत्येक अनुकूलीकरण; एक नवीन स्थितियां उत्पन्न करता है जिनके लिए नवीन अनुकूलीकरण आवश्यक होता है। इस प्रक्रिया का कोई अन्त

नहीं है। विज्ञान की यह धारणा स्पेन्सर के समन्वयात्मक दर्शन के मूल पर ही कुठाराघात करती है। मैक्सी के अनुसार, ''कोई भी आधुनिक राजनीतिक विचारक स्पेन्सर को अपना गुरू नहीं मानता। आधुनिक आलोचकों की दृष्टि में वह एक नैसिखिया वैज्ञानिक और दार्शनिक है। स्पेन्सर के बाद विज्ञान के क्रमिक विकास विषयक ज्ञान में बहुत वृद्धिहुईहै, जिससे अत्यधिक विश्वास की उन धारणाओं का खण्डन होता है जिनके आधार पर स्पेन्सर ने मानव-समाज की समस्याओं को हल करने का हठपूर्ण प्रयास किया था। '' स्पेन्सर समाज रूपी प्राणी के अनेक टुकड़े करता है। इसलिए बार्कर ने अपनी व्यंग्यात्मक भाषा में कहा है, ''स्पेन्सर ने अपने सामाजिक प्राणी की हत्या कर उसे अनेक टुकड़ों में बॉटकर दरवाजे के बाहर फेंक देता है।'' अनेक कमियों के बावजूद स्पेन्सर 19 वीं सदी के विकासवादी चिन्तन का प्रमुख दार्शनिक और वैज्ञानिक व्यक्तिवाद का महान प्रवक्ता था। स्पेन्सर का अध्ययन गम्भीर और विशाल था। समन्वयवादी होने के कारण उसकी तुलना अरस्तु, हीगल और कॉम्टे से की जा सकती है। उदारवादी परम्परा में स्पेन्सर का महत्व विशेषतः इस बात में है कि उसने वैज्ञानिकों का आधार ग्रहण कर और राज्य की हिंसात्मक एवं पापात्मकता की ओर ध्यान आकर्षित कर उग्र व्यक्तिवाद का पोषण किया है। प्रारंभिक उदारवाद का संबंध मानवतवाद के साथ था, लेकिन स्पेन्सर ने उदारवाद को प्रकृतिवाद का वैज्ञानिक आधार प्रदान किया। इसी तरह प्राणिशास्त्र सम्मत उदारवाद का निर्माण हुआ।

स्पेन्सर के दर्शन के महत्व पर सेबाइन ने लिखा है कि, '' अनेक त्रुटियों के बावजूद उसने सामाजिक-शास्त्रों के अध्ययन के क्षेत्र में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन किये। उसने मानव विकास और जीव विज्ञान का संबंध स्थापित किया और इस प्रकार पुराने साहचार्यपरक मनोविज्ञान के रूढ़िवाद को समाप्त किया। उसने राजनीति और नीतिशास्त्र पर समाजशास्त्रीय एवं मानवशास्त्रीय अनुसंधान और इस तरह सांस्कृतिक इतिहास के सन्दर्भ में विचार किया। संश्लिष्ट दर्शन का युग ई0 बी0 टीलर और एल0 एच0 मोर्गन के मौलिक तथा अधिक महत्वपूर्ण कार्य का युग भी था। मिल की भांति स्पेन्सर ने भी पूर्ववर्ती उपयोगितावादी दर्शन और सामाजिक अध्ययन के बौद्धिक पृथक्त्व को समाप्त कर उसे आधुनिक विज्ञान के व्यापक क्षेत्र का एक अंग बना दिया। इस रूप में कॉम्टे के दर्शन का भी बौद्धिक दृष्टि से बहुत अधिक महत्व था।''

स्पेन्सर के दर्शन का मूल्यांकन प्रस्तुत करते हुए फ्लूगन ;थ्सनहंसद्ध का कथन है- ''स्पेन्सर एक महान विचारक था तथा जीवन के तथ्यों के बीच सम्बन्ध स्थापित करने की उसकी प्रबल आकांक्षा थी। डार्विन के समान वह प्रकृति के निकट सम्पर्क में नहीं रहा तथापि उसके विचारों की महानता और उत्कृष्टता की समता आज तक कोई नहीं कर सका है। यदि पाठक ध्यानपूर्वक उसके सिद्धान्त का अध्ययन करेंगे तो निश्चय की उसकी महानता की छाप उन पर पड़े बिना नहीं रहेगी।

समकालीन समाज विज्ञान और राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत संरचनात्मक-कृत्यात्मक उपागम का निर्माण मुख्यतः स्पेन्सर के प्रतिरूप ;डवकमसद्ध के आधार पर किया गया है। परन्तु स्पेन्सर के राजनीतिक दृष्टिकोण को आज के युग में कहीं भी स्वीकार नहीं किया जाता हालांकि मिल्टन फ्रीडमैन के चिंतन में उसकी कुछ-कुछ अनुगुंज सुनाई देती है।

अभ्यास प्रश्नः-

प्र01. स्पेन्सर के सामाजिक विकास के सिद्धान्त पर प्रकाश डालिए।

प्र02. स्पेन्सर का विकासवादी सिद्धान्त क्या है? समझाइये।

प्र03. स्पेन्सर के सामाजिक डार्विनवाद सिद्धान्त समझाइये।

प्र04. स्पेन्सर के दर्शन का मूल्यांकन कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्नः-

प्र01. *Man Versus the State* किसकी रचना है?

(क) अगस्ट कॉम्टे (ख) हरबर्ट स्पेन्सर

(ग) साइमन (ख) हक्सले

प्र02. *Social Statics* का लेखक कौन है।

(क) लास्की (ख) ग्रीन (ग) बोंसाके (ख) स्पेन्सर

प्र03. सावयव सिद्धान्त का वैज्ञानिक प्रतिपादन किस व्यक्ति ने किया।

(क) हॉब्स (ख) कॉम्टे (ग) बेंथम (घ) स्पेन्सर

11.5 सारांश

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप कॉम्टे के ज्ञान के विकास की विभिन्न अवस्थाओं को समझ गये होंगे। कॉम्टे के विज्ञानों का श्रेणीतंत्र भी जान गये होंगे। कॉम्टे के समाज विज्ञान के स्वरूप को समझ गये होंगे। कॉम्टे का प्रत्यक्ष सरकार का सिद्धान्त भी जान सके होंगे। हरबर्ट स्पेन्सर के सामाजिक विकास का सिद्धान्त क्या है जान गये होंगे। हरबर्ट स्पेन्सर के सामाजिक डार्विनवाद को समझ गये होंगे। स्पेन्सर के दर्शन का मूल्यांकन भी समझ गये होंगे।

11.6 शब्दावली:-

धर्ममीमांसीय अवस्था	-	*Theological Stage*
तत्वमीमांसीय अवस्था	-	*Metaphysical Stage*
वैज्ञानिक-सकारात्मक अवस्था	-	*Scientific Positive Stage*
सामाजिक गतिविज्ञान	-	*Social Dynamics*
सामाजिक स्थिति विज्ञान	-	*Social Statics*
बौद्धिक अराजकतावाद	-	*Intellectual Anarchism*
सामाजिक विकासवाद	-	*Social Evolutionism*
योग्यतम की विजय	-	*Survival of fittest*
अहस्तक्षेप	-	*Laissez faire*
असंगत समरूपता	-	*Incoherent Homogeneity*
सुसंगत विषमरूपता	-	*Coherent Hetrogeneity*

11.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

24.3 के उत्तर -

1 . ग, 2 . घ, 3 . क

24.4 का के उत्तर -

1 . ख,2 . घ,3 . घ

11.8 संदर्भ ग्रन्थः-

1.शर्मा, डॉ0 पी0डी0-आधुनिक राजदर्शन, कॉ-ऑपरेशन पब्लिकेशन्स, जयपुर, 2014

2.गाबा, ओम प्रकाश - राजनीति-चिंतन की रूपरेखा, मयूर पेपरबैक्स, नोयडा, 2006

3.अविनेरी एस, प्राब्लम ऑफ वार इन हीगल्स थॉट, जर्नल ऑफ हिस्ट्री आइडिया, 1961

4. सेबाइन, राजनीतिक दर्शन का इतिहास, खण्ड-2

11.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्रीः-

1. शर्मा, डॉ0 प्रभुदत्त (सम्पादित एवं अनुवादक)-अभिनव राजनीतिक चिन्तन, साहित्यागार, जयपुर, 2013.
2. फोस्टर माइकेल, दि पॉलिटिकल फिलासफीज ऑफ प्लेटो एण्ड हीगल, न्यूयार्क रसैल, 1995.
3. Dunning- History of Polical Theories, Vol III.
4. Barker- Political Thought in England.
5. *W. Lancaster: Masters of Political Thought, Vol III*
6. *Spencer: Social Statics, P 126-127*
7. *Barker: Political Thought in England, 1818 to 1914'*

11**.10 निबन्धात्मक प्रश्नः-**

1. आगस्ट कॉम्टे के विकास की तीन अवस्थाओं पर संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।
2. आगस्ट कॉम्टे का प्रत्यक्ष सरकार के सिद्धान्त का आलोचनात्मक परीक्षण करें।
3. हरबर्ट स्पेन्सर के विचार आधुनिक व्यक्तिवाद का आधार है, समझाइये।
4. स्पेन्सर के सामाजिक डार्विनवाद पर लेख लिखिए।
5. स्पेन्सर के दर्शन का आलोचनात्मक परीक्षण करें।

इकाई 12 : कार्ल मार्क्स

इकाई की संरचना

12.1 प्रस्तावना
12.2 उद्देश्य
12.3 जीवन परिचय
12.4 द्वंद्वात्मक भौतिकवाद
12.5 ऐतिहासिक भौतिकवाद
12.6 वर्ग संघर्ष
12.7 अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत
12.8 युवा मार्क्स
12.9 सारांश
12.10 शब्दावली
12.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
12.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
12.13 सहायक /उपयोगी पाठ्य सामग्री
12.14 निबंधात्मक प्रश्न

12.1 प्रस्तावना

इसके पूर्व की इकाई में हम उपयोगितावादी विचारकों बेंथम और मिल के विचारों का अध्ययन कर चुके है |जिसमें हमें बेंथम ने उपयोगितावादी विचार में सुख की गडना मात्रात्मक आधार पर की है और राज्य का आधार उसकी आमजनमानस के लिए उसकी उपयोगिता बताया है | जान स्टुअर्ट मिल ने उपयोगितावाद में सुधार करने के प्रयास में उसमें इतना बदलाव ला दिया कि मिल का उपयोगितावाद बेथंम के उपयोगितावाद का समर्थक नहीं बल्कि आलोचक बन जाता है। मिल को बेथंम तथा मिल ने उपयोगितावाद के समर्थक के रुप में तैयार किया | मिल ने ,बेंथम द्वारा दी गई सुख की मात्रात्मक व्याख्या,को गुणात्मक व्याख्या की है |

इस इकाई में मार्क्स के राजनीतिक विचारों का विस्तार से अध्ययन करेंगे | इसमें हम द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धांत का भी अध्ययन करेंगे .जिसमें यह देखेंगे कि किस तरह से समाज के विकास का आधार भौतिक शक्तिया है |जिसमें उत्पादन संरचना ऐसी है कि उत्पादन के साधनों पर कुछ लोंगो का स्वामित्व स्थापित हो जाता है |जिससे समाज में वर्ग विभाजन स्पष्ट हो जाता है |और इसी पूजीवादी व्यस्था में ही इसके विनास के बीज निहित होते है |इसका भी अध्ययन इस इकाई में किया जाएगा |

12.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त हम मार्क्स के --

1. राजनीतिक विचारों के सम्बन्ध में विस्तार से जान सकेंगे |

2.द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धांत को समझ सकेंगे |

3.ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धांत को समझ सकेंगे |

4.अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत और वर्ग संघर्ष के बारे में जान सकेंगे |

5.यह भी जान सकेंगे कि वे कौन से कारक है जो अंततः सर्वाहार वर्ग को संगठित होकर क्रांति के लिए अग्रसर करते हैं |

12.3 जीवन परिचय

मार्क्स को एक ऐसे सिद्धांतकार के रुप में जान जाता है जिससे समाज विज्ञानों में आर्थिक व्याख्या के तत्व को शामिल कराया। राजनीति विज्ञान में मार्क्स साम्यवादी विचारधारा को लाया तथा सर्वहारा के अधिनायकतंत्र की स्थापना के लिए उसने क्रांति का समर्थन किया। मार्क्स का जन्म 1818 में प्रसा के एक यहूदी परिवार में हुआ। बाद में परिवार ने इसाई धर्म को अपना लिया तथा मार्क्स धर्म से विमुख होने लगा। 1935 में मार्क्स विधि की पढ़ाई करने वॉन विश्वविद्यालय पहुँचा, पर 1936 में वह बर्लिन पहुँच गया जहाँ पहुँचकर वह हीगल के प्रभाव में आ गया। अपनी शिक्षा के बाद उसने पत्रकार का पेशा अपनाया तथा पेरिस आ पहुँचा जहाँ उसकी मुलाकात उस युग के समाजवादी विचारको से हुई। इनमें कैबेट, प्रूदों तथा ऐंजल्स आदि का नाम महत्वपूर्ण है। 1844 में मार्क्स ने Economic and Philosophical manuscript लिखा किन्तु यह पुस्तक छिपी रही तथा 1930 के दशक में ही विश्व को इसका पता चल सका। फ्रांस की 1848 की क्रान्ति के बाद मार्क्स को ऐंजल्स के साथ मिलकर साम्यवादियों के लिए घोषणापत्र लिखने का कार्य दिया गया तथा इन्होने Communist Manifesto की रचना की। यही पुस्तक मार्क्स की ख्याति का आधार बनी। 1859 में मार्क्स ने Critic of Political Economy लिखा तथा 1868 में दास कैपिटल का प्रथम भाग प्रकाशित हुआ। 1883 में लंदन में मार्क्स की मृत्यु हो गई।

12.4 द्वंद्वात्मक भौतिकवाद

मार्क्स का मूल सिद्धान्त द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धांत है। मार्क्स ने द्वंद्ववाद का दृष्टिकोण हीगल से तथा भौतिकवाद का दृष्टिकोण फेयर बैक से ग्रहण किया है। इनही दोनों जर्मन विचारकों के प्रभाव को देखते हुए लेनिन के बाद में कहा कि मार्क्स पर जर्मन दर्शन का प्रभाव देखा जा सकता है। द्वंद्ववादी प्रक्रिया में यह माना जाता है कि अतं र्विरोध ही परिवर्तन का मूल कारण है। मार्क्स इस विचार को स्वीकार कर कहता है कि संघर्ष सभी परिवर्तनों के मूल में है। दूसरी और भौतिकवाद कहता है कि हमारे विचार भौतिक परिस्थितियों से निर्धारित होते है। मार्क्स इन दोनों विचारों अर्थात द्वन्द्ववाद एंव भौतिकवाद को मिला देता है। किन्तु इस परिवर्तन की पद्धति द्वन्द्वात्मक होती है। किसी भी समाज में भौतिकता आर्थिक ढ़ॉचे में निहित होती है जिसका निर्माण मनुष्य अपनी भौतिक जरूरतों की पूर्ति के लिए करता है। मनुष्य का उद्देश्य अपने भौतिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि होती है एवं इन्ही आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए समाज की आर्थिक प्रक्रिया समाज का आधारभूत ढांचा बनाती है। मार्क्स कहता है कि प्रत्येक सामाजिक संरचना में दो ढाँचे निहित होते है आधारभूत ढाँचा एवं उपरी ढाँचा। आधार का निर्माण आर्थिक प्रक्रिया से होता है एवं राजनैतिक विधिक वैचारिक एवं दार्शनिक व्यवस्थाएं ऊपरी ढाँचे में निहित होती है। भौतिकवादी दृष्टिकोण के आधार पर मार्क्स कहता है कि चूंकि भौतिकता आर्थिक प्रक्रिया में निहित होती है इसलिए आर्थिक प्रक्रिया का बदलाव ही सामाजिक बदलाव को निर्धारित करता है। एक समाज कि विचारधारा धर्म, राजनीति आदि वैसी ही होती है जैसी उस समाज की आर्थिक प्रक्रिया होती है। दूसरे शब्दों में जैसी उस एसमाज की उत्पादन रीति होती है वैसी ही समाज होता है। इन्हीं सन्दर्भो में मार्क्स ने कहा है कि राज्य की जड़ राजनीति में निहित न होकर आर्थिक प्रक्रिया में निहित होती है। हीगल के द्वन्द्वात्मक आदर्शवाद को भौतिकवादी आधार से जोड़ देने के कारण ही मार्क्स ने कहा कि हीगल सर के बल खड़ा था मैने उसे पॉव पर खड़ा कर दिया। यहाँ सर का तात्पर्य चेतना से एवं पैर का तात्पर्य भौतिकता से है।

समाज की आर्थिक प्रक्रिया का निर्धारण उत्पादन रीति से होता है। मार्क्स का कहना है कि उत्पादन रीति में होने वाला हर बदलाव समाज को विकास की ओर ले जाता है। समाज विकास के विभिन्न चरणों में आने वाले पड़ाव एक निश्चित उत्पादन रीति द्वारा ही निर्धारित होते है। मार्क्स कहता है कि हर आर्थिक सामाजिक संरचना एक

निश्चित उत्पादन रीति पर आधारित होती है। यदि सामंतवाद कृषक उत्पादन रीति पर आधारित था, तो पूंजीवाद औद्योगिक उत्पादन रीति पर आधारित होती है। प्रत्येक उत्पादन रीति के दो मार्ग होते है- उत्पादन शक्ति तथा उत्पादन सम्बन्ध उत्पादन शक्ति के भी दो भाग होते है- उत्पादन के साधन तथा मानव शक्ति। उत्पादन के साधन के भी दो भाग होते है- श्रम का साधन तथा श्रम की वस्तु। श्रम की वस्तु वह है जिस पर श्रम आरोपित होता है तथा श्रम का साधन वह है जिसकी सहायता से हम श्रम आरोपित करते है। यदि इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को उदाहरणों से स्पष्ट किया जाये तो हम देखते है कि सामन्तवादी आर्थिक सामाजिक संरचना में कृषक उत्पादन पद्धति निहित होती है। यहाँ उत्पादन सम्बन्ध सामान्तों व कृषकों के बीच का सम्बन्ध है। मानव शक्ति का तात्पर्य कृषकों की उत्पादन शक्ति है। श्रम की वस्तु भूमि है तथा श्रम का साधन हल है। मार्क्स कहता है कि इसी आर्थिक प्रक्रिया के बदलाव से समाज आता है। आर्थिक प्रक्रिया का बदलाव अन्तर्विरोध के कारण है।

यह अंतर्विरोध उत्पादन शक्ति एवं उत्पादन सम्बन्ध के बीच होता है। उत्पादन शक्तियाँ विकसित होती रहती है पर उत्पादन सम्बन्ध नही बदलते, यही इस अंतर्विरोध का कारण है। उत्पादन सम्बन्ध का उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण होता है। उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण दो प्रकार से सम्भव है- निजी अथवा सामूहिक निजी नियन्त्रण की स्थिति में उत्पादन सम्बन्ध स्वार्थ पर आधारित होते है। मार्क्स कहता है कि हर वर्ग विभाजित समाज में दो मूल वर्ग होते है एक वह जिसका उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण होता है दूसरा वह जिसका उत्पादन के साधनों पर कोई नियन्त्रण नहीं होता। इन वर्ग विभाजित समाजों में उत्पादन सम्बन्ध वर्ग हित में होते है। अर्थात इनमें उस वर्ग का हित होता है जिसका उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण होता है यह वर्ग उत्पादन सम्बन्ध को नहीं बदलने देना चाहता है। मार्क्स की परिकल्पना कहती है कि उत्पादक शक्तियों का विकास निरन्तर होता रहता है जबकि उत्पादन सम्बन्ध नही बदलते। उत्पादक शक्ति का हर बदलाव उत्पादन सम्बन्धों में बदलाव की अपेक्षा करता है, परन्तु जब उत्पादन सम्बन्ध नहीं बदलते तो उत्पादक शक्तियों एवं उत्पादन सम्बन्धों में तनाव बनने लगता है एवं उत्पादक शक्तियों का विकास अवरूद्ध होने लगता है।

परन्तु चुँकि उत्पादन शक्तियों का विकास होना ही है तो एक निश्चित अवस्था के बाद जब उत्पादक शक्ति और विकसित नहीं हो सकती, क्रांन्ति होती है तथा उत्पादक पद्धति बदल जाती है। इस नई उत्पादन पद्धति अथवा उत्पादन रीति में नये सम्बन्ध होते है एवं इन नये सम्बन्धों के तहत उत्पादक शक्तियों का विकास होने लगता है। लेकिन अगर उत्पादन सम्बन्ध अभी भी वर्ग हित में हो तो उत्पादक शक्तियों का विकास फिर अवरूद्ध होने लगता है एवं नए सिरे से क्रांन्ति होती है, नई उत्पादन रीति बनती है एवं उत्पादक शक्तियाँ बढ़ती रहती है। बदलाव की यह प्रक्रिया इन्हीं अन्तर्विरोधी के फलस्वरूप आगें बढ़ती जाती है। तबतक जब तक कि उत्पादन के साधनों पर सामूहिक स्वामित्व स्थापित न हो जाए वर्ग विभाजन समाप्त न हो जाए एवं उत्पादक शक्तियों के विकास पर कोई प्रतिबन्ध न रहे। बदलाव की इस पद्धति में अन्तर्विरोधी में सामंजस्य एवं नए अन्तर्विरोधों का विकास अन्तर्निहित है। उत्पादन रीति में आने वाला वदलाव अगर वाद है तो उत्पादक शक्तियों एवं उत्पादन सम्बन्धों के बीच का तनाव प्रतिवाद है, नई आर्थिक सामाजिक संरचना का निर्माण संवाद है।

12.5 ऐतिहासिक भौतिकवाद

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की इसी पद्धति को जब मार्क्स ने इतिहास की व्याख्या के लिए प्रयोग किया तो ऐतिहासिक भौतिकवाद का सिद्धान्त सामने आया। ऐतिहासिक भौतिकवाद वस्तुतः इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या का प्रयास है। मार्क्स कहता है कि इतिहास भौतिक आधारों और मूलतः उत्पादन रीति में आने वाले परिवर्तन से निर्धारित होता है। इतिहास का यह विकास एक निश्चित रेखा पर समान गति से न हो कर विभिन्न चरणों मे होता है।

प्रत्येक चरण एक निश्चित सामाजिक आर्थिक संरचना से बनता है जिसका एक निश्चित उत्पादन रीति होती है। मार्क्स के अनुसार इतिहास में ऐसे पाँच चरण आते है। इनमें से चार चरणों से हम गुजर चुके है एवं पॉचवा भविष्य में सामने आएगा। प्रथम चार चरण

1. आदिम साम्यवाद

2. दासमूलक समाज

3.सामन्तवाद एवं

4. पूँजीवाद से बनते है।

पाँचवाँ चरण साम्यवाद का होगा किन्तु उसके पहले समाजवादी का एक मध्यवर्ती चरण आएगा जो पूँजीवाद से साम्यवाद में संक्रमण काल के दौर में दिखेगा।

प्रथम चरण जिसे मार्क्स आदिम साम्यवाद कहते है। एक वर्ग विहीन एवं राज्य विहीन स्थिति थी। उत्पादक शक्तियों का विकास काफी कम हुआ था, जिसके कारण उत्पादन, उपभोग से कम था। जो भी उत्पादित होता था वह उपभोग में आ जाता था, जिसके कारण किसी अधिशेष की उपस्थिति नही थी। अधिरोष न होने से निजी सम्पत्ति की अवधारणा भी नहीं थी। समाज में समानता थी एवं वर्ग का अस्तित्व नहीं था। वर्ग न होने से वर्ग शोषण के उपकरण की जरूरत भी नहीं थी, इस प्रकार राज्य भी अनुपस्थित था क्योंकि राज्य शोषण के उपकरण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। पर उत्पादक शक्तियों का निरन्तर विकास हो रहा था। इसी विकास क्रम में एक ऐसी स्थिति आई जब उत्पादन ने उपभोग के स्तर को प्राप्त कर लिया। अब अधिशेष का बचना सम्भव हो गया। इससे समाज वर्गो में बटने लगा। सम्पत्तिवान वर्ग को अपनी संपित्त को बचाए रखने की चिंता थी अतः वर्ग शोषण के उपकरण राज्य का निर्माण किया गया।

इसी के साथ हम दासमूलक समाज में आ गए। यह समाज विकास की दूसरी अवस्था थी। इसमें वर्ग एवं राज्य दोनों का अस्तित्व था। उच्च वर्ग अर्थात दास स्वामियों ने दासों को नियन्त्रित का प्रयोग किया। मार्क्स कहता है कि आगे के समाज विकास के चरण भी वर्ग विभाजित थे। सामंतवाद में सामंत और कृषक तथा पूतीवाद में मजदूर समाज वर्ग के प्रमुख थे। मार्क्स कहता है कि पूँजीवाद का विकास स्वयं ही पूँजीवाद को विनाश की और ले जायेगा तथा क्रांति के पश्चात सर्वहारा अधिनायकतंत्र स्थापित होगा। अब समाज एक संक्रमण काल से गुजरेगा जिसे मार्क्स पूँजीवाद और साम्यवाद के बीच का मध्यवर्ती चरण बताता है तथा समाजवाद का नाम देता है। इसकी पहचान सर्वहारा के अधिनायकयंत्र के रूप में इसलिए है क्योकि यह भी एक शोषण परक व्यवस्था होगी। इसमें सर्वहारा अर्थात बहुसंख्यक, पूँजीपति अथवा अल्पसंख्यक का शोषण करेगा। इसका लक्ष्य शोषण को बनाए रखना नही वरन इसे समाप्त करना होगा। इसमें सामाजिक वितरण प्रत्येक को उसकी योग्यता के अनुसार एवं प्रत्येक को उसके योग्यता के अनुसार होगा। इसमें पूँजीवादी प्रवृत्तियों को धीरे-धीरे समाप्त का दिये जायेगा तथा धीरे-धीरे वर्ग विभाजन समाप्त हो जायेगा।

यही साम्यवाद का चरण होगा जिसमें न तो वर्ग की उपस्थिति होगी न वर्ग शोषण के उपकरण राज्य की। यह धर्म विहीन राज्यविहीन स्थिति होगी। इसमें सामाजिक वितरण का आधार होगा प्रत्येक से उसकी योग्यता के अनुसार और प्रत्येक को उसकी आवश्यकता के अनुसार यहाँ वर्ग विरोध न होने के कारण उत्पादक शक्तियों को रोकने

वाला उत्पादन संबंध नही होगा। उत्पादन के साधन सामूहिक स्वामित्व में होगे तथा संम्बन्ध समानता के होंगे अतः उत्पादक शक्तियों एवम् उत्पादन संबंधों में तनाव उत्पन्न नही हो पाएगा। उत्पादन शक्ति के विकास के कारण उत्पादन इतना बढ़ जाएगा कि सबके आवश्यकता की पूर्ति करना संभव हो जायेगा। मार्क्स का यह ऐतिहासिक भौतिकवाद अंततः नियतीवादी दृष्टिकोण बन जाता है। इसमें इतिहास की एक निश्चित रेखा निर्धारित कर दी गई है। हर समाज को इसी रेखा से होकर गुजरना है। मार्क्स कहता है कि एक विकसित राष्ट्र एक पिछड़े राष्ट्र को उसके भविष्य की तस्वीर दिखाता है। इसका यह तात्पर्य हुआ कि एक ही रेखा पर सभी बढ़ रहे है। कोई थोड़ा आगे है तो कोई थोड़ा पीछे। इस प्रकार का नियतिवादी दृष्टिकोण मानवीय प्रयास की संभावना को ब्यर्थ बना देता है। मानव समुदाय अपनी इच्छा एवंम् सोच से समाज के भविष्य का निर्धारण नही कर सकता है, पर मार्क्स के बाद के इतिहास को देखने पर हम पाते है कि ऐसा नही हुआ। रूस से सर्वहारा के अधिनायकतंत्र की स्थापना का प्रयास जरूर हुआ पर इससे राज्य के समाप्ति के प्रयास की झलक नही मिली एवम् साम्यवादी विचार को नकारकर लोकतंत्र की स्थापना की गई इसके अतिरिक्त साम्यवाद मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण पर भी सही नही ठहरता मानव मनोविज्ञान कहता है कि आवश्यकता को संतुष्टि संभव ही नही है।

12.6 वर्ग संघर्ष

मार्क्स कहता है कि अब तक का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है। यह वर्ग संघर्ष इस कारण है कि वर्ग विभाजित समाज में शोषण अन्तर्निहित है। वर्ग का निर्धारण उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण से होता है जिनका उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण से होता है वे समाज में शक्तिशाली होते है। मार्क्स का मानना है कि हर सामाजिक आर्थिक संरचना में जिसकी एक निश्चित उत्पादन रीति होती है एवं जो वर्ग विभाजित होता है। दो मूलवर्ग होते है। एक वह जिसका उत्पादन के साधन पर नियन्त्रण है तथा दूसरे वे जिनका नियन्त्रण नही होता है। इन दो के अलावा और भी वर्ग उपस्थित हो सकते है परन्तु यही दो मूलवर्ग होते है। इनका सम्बन्ध संघर्ष पूर्ण सम्बन्ध होता है क्योंकि एक शोषित होता है और दूसरा शोषण करने वाला होता है। एक शोषण पर ही दूसरे का हित टिका होता है। इस कारण इन दोनों वर्गो में संघर्ष अन्तर्निहित होता है। हर वर्ग विभाजित समाज में यह संघर्ष देखा जा सकता है। दासों व दासस्वामियों, सामान्तों एवं कृषकों तथा मजदूरों एवं पूँजीपतियों में यह संघर्ष विद्यमान रहा है। इस संघर्ष के दो परिणाम संभव हैं या तो शोषित वर्ग की विजय होगी या दोनों वर्ग समाप्त हो जायेगे । शोषितों की विजय सम्भव नही क्योंकि ये अल्पसंख्यक है जीतना तो शोषितों को ही है। पर न तो दास जीत सके न कृषक पर सर्वहारा इस संघर्ष में विजय प्राप्त करेगा। दास मूलक समाज की समाप्ति पर न दास बचे न दास स्वामी एवं सामन्तवाद की समाप्ति पर सामन्त रहे न कृषक परन्तु पूंजीवाद की समाप्ति सर्वहारा की जीत के साथ होगी। ऐसा कारण होगा कि जहाँ दास एवं कृषक स्वंय में एक वर्ग थे वही सर्वहारा स्वंय के लिए एक वर्ग में बदल जाएगा।

स्वंय में एक वर्ग का तात्पर्य वर्ग चेतना की अनुपस्थिति से है। ऐसी स्थिति में एक व्यक्ति अपनी वर्ग स्थिति को अपनी चेतना से नही जोड पाता और इस कारण वर्ग एकता का अभाव होता है। इस एकता के अभाव में वह अपनी निम्न एवं शोषित स्थिति का कारण नही समझ पाता। वह इन्हें व्यक्तिगत कारणों से जोडता है। सत्य का उसे पता नही होता। वह विचारधारा, धर्म आदि की मिथ्या चेतना से जुड़ा होता है। एकता की अनुपस्थिति ही उसे कमजोर बनाती है और इस कारण वर्ग संघर्ष में उसकी जीत की संभावना कम हो जाती है। ऐसा ही दासों एवं कृषकों के साथ हुआ परन्तु पूंजीवाद की स्थिति भिन्न है। इसने औद्योगीकरण को बढ़ावा दिया है। लाखों मजदूर एक साथ कार्य कर रहे है। इससे उन्हे एक दूसरे का आभास मिलता है। अपने शोषण एवं अपने सहयोगियो के शोषण की समानता को वह पहचान जाते है। वे एकताबद्ध होने लगते है और स्वंय में एक वर्ग से स्वंय के लिए एक

वर्ग में बदल जाते है। अब उन्हें अपनी वर्ग स्थिति एवं अपने वर्ग की ऐतिहासिक भूमिका का अहसास हो जाता है। अपनी भूमिका की इसी स्वीकृति का परिणाम है क्रांन्ति के फलस्वरूप सर्वहारा अपना अधिनायकतन्त्र स्थापित करता है एवं उत्पादन के साधनों पर सामूहिक स्वामित्व स्थापित कर दिया जाता है। इससे अधिशेष किसी एक वर्ग अथवा व्यक्ति के पास नही जाता। वर्ग विभाजन समाप्त होने लगता है और अन्ततः साम्यवाद में जाकर वर्ग की अवधारणा समाप्त हो जाती है। अन्तर मात्र इतना रहता है कि जहाँ आय दिन साम्यवाद मे उत्पादन शक्तियों के कम विकसित होने एवंम् प्रकृतिक बंधनों के मजबूत होने के कारण मानव जीवन पर अनेक बंधन होते है वही साम्यवाद में आकर मानव प्रकृतिक बंधनों से मुक्त हो जाता है। उसकी सभी आवश्यकताएँ संतुष्ट हो जाती है और वह विवशता के लोक से स्वतंत्रता के लोक में पहुँच जाता है। वह आत्मप्रेरित व्यवहार करने लगता है। इस प्रकार हम देखते है कि समाज का वर्ग विभाजन इतिहास के एक निश्चित दौर का यथार्थ है। वर्ग न तो हमेशा से थे न ही हमेशा रहेंगे। ये इतिहास की एक निश्चित अवस्था में उत्पन्न हुए तथा इतिहास की एक निश्चित अवस्था में जाकर समाप्त हो जाऐंगें। उत्पादक शक्तियों के विकास से जब उत्पादन उपभोग से अधिक हो गया तो इस अधिशेष ने वर्गो को उत्पन्न कर दिया एवमं जब उत्पादन के साधनों पर सामूहिक स्वामित्व हो जायेगा तो वर्ग समाप्त हो जायेगें। पूर्ण समानता के इस समाज में ही वास्तविक स्वतन्त्रता निहित होगी।

वर्ग विभेद रहित समाज के इस स्वप्न ने पीढ़ियों तक लोगो को मार्क्सवादी विचार से जोड़ा है। पर यह दृष्टिकोण व्यवहारिक के पैमानो पर आलोचित भी होता रहा है। लोगों का कहना है कि हर समाज में श्रेणीक्रम निर्धारित हो जाते है। निश्चित रूप से यह माना जा सकता है कि वर्तमान समाज में सम्पत्ति असमानता का प्रमुख कारण है पर यह मानना मुश्किल है कि निजी सम्पत्ति की अनुपस्थिति वाले समाज में पूर्ण समानता आ जाएगी। इजराइल के किबुत्ज पर अध्ययन करने वाले लोगों ने भी कहा है कि पूर्ण समानता यहाँ भी नहीं है।

यहाँ मार्क्स ने जिस साम्यवादी स्थिति की बात की है उसमें राज्य को कोई अस्तित्व नहीं है। राज्य विषयक अपने दृष्टिकोण में मार्क्स ने कहा है कि आधुनिक राज्य शोषण के उपकरण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। मार्क्स का कहना है कि राज्य का कार्यकारिणी पूजीपतियों की समिति मात्र है। मार्क्स के सहयोगी ऐजल्स ने अपनी पुस्तक 'Origin of Family, Private Property and State' में लिखा है कि राज्य समाज विकास में एक निश्चित अवस्था का उत्पाद है। यह अवस्था वस्तुतः आदिम साम्यवाद से दासमूलक समाज में संक्रमण की आवस्था है। इस संक्रमण काल में जब अधिशेष की उपस्थिति के कारण वर्ग विभाजन प्रकट हो गया तो सम्पत्तिवान वर्ग को अपने हितों को बनाए रखने की चिंता हुई इस चिंता ने वर्ग शोषण के एक उपकरण को जन्म दिया। राज्य यही वर्ग शोषण का उपकरण है। इसकी सहायता से अमीर वर्ग अपना हित साधता है दासमूलक समाज में इस राज्य ने दासों को नियन्त्रित रखने में दास मालिकों की मदद की। सामतवाद में इसी प्रकार इसने सामंतो का और पूँजी वाद में पूँजीपतियों का साथ दिया। इसने शोषण से लोगों का ध्यान हटाने के लिए सहमति का भ्रम पैदा किया। इसके लिए इसने राष्ट्रवाद एवम् राष्ट्रीयता आदि विचारधाराओं का प्रयोग किया। मार्क्स का मानना है कि विचारधारा सत्य का अहसास नहीं होने देती, यह एक प्रकार की मिथ्या चेतना है। यहाँ विचारधारण एवंम सहमति आदि बातों से यह निष्कर्ष नही निकाल लेना चाहिए कि मार्क्स के अनुसार पूँजीपति वर्ग सहमति पैदा कर अपना हित साधता है। सहमति के आधार पर शोषण का दृष्टिकोण तो आगे चलकर ग्राम्शी ने दिया। मार्क्स तो बल प्रयोग पर ही अपनी आस्था रखता है। मार्क्स का मानना है कि राज्य अपनी शक्ति के द्वारा पूँजीपति वर्ग की मदद करता है। इसका कार्य उस शोषण परक अनुबन्ध को लागू करना है जो मजदूर को पूँजीपति का गुलाम बना देता है मार्क्स का मानना है कि जब क्रांन्ति के पश्चात सर्वहारा का अधिनायकतन्त्र स्थापित होता है तब भी राज्य की शोषण परक भूमिका बनी रहती है। अब वह मजदूरों के हित में पुँजीपतियों का शोषण करता है। इस चरण में उत्पादन के साधनों पर जिस

सामाजिक स्वामित्व की बात होती है वह व्यवहारिक रुप में राज्य के स्वामित्व में ही रहता है। इस वस्तुतः मार्क्सवादी अवधारणा में राज्य की भूमिका तब तक बनी रहती है जब तक वर्ग विभाजन बना रहता है। इस अवधारणा के अनुसार जब साम्यवादी चरण में जाकर वर्ग विभेद समाप्त हो जाएगा तभी राज्य लुप्त हो जाएगा।

12.7 अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत

समाजिक परिवर्तन के माध्यम से साम्यवाद की स्थापना का प्राथमिक बिन्दु सर्वहारा क्रांन्ति है। मार्क्स कहता है। कि दुनिया के मजदूर एकजुट होकर पूँजीवाद का नाश करेगें किन्तु मार्क्स इसे मजदूरों की इच्छा पर नहीं छोड़ता वह इसे पूँजीवाद के विकास का स्वभाविक परिणाम बताता है। मार्क्स कहता है कि पूँजीवाद अपने ही अन्तर्विरोधों के तले टूटकर बिखर जाएगा। मार्क्सवादी विचार में पूँजीवाद की समाप्ति को शोषण की अनिवार्यता दिखाने का सिद्धांत अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत है। अतिरिक्त मूल्य का मार्क्स का यह सिद्धान्त रिकार्डो द्वारा प्रतिपादित मूल्य के श्रम सिद्धान्त से प्रभावित है। यदि किसी वस्तु के उत्पादन में 4 घंटे लगे तो इसकी कीमत उस वस्तु से दोगुनी होगी जिसके उत्पादन में 2 घंटे लगते है। मार्क्स का कहना है कि पूँजीवाद की प्रक्रिया में जो कुछ भी मूल्य उत्पादित होता है वह मजदूर के द्वारा होता है। किन्तु मजदूर जितना श्रम करता है उतना मूल्य नही प्राप्त करता। उसे जितने घंटे का वेतन मिलता है उसके अतिरिक्त भी कूछ कार्य करना पड़ता है। इसी अतिरिक्त समय में किए गये कार्य द्वारा दत्पादित मूल्य से पूँजीपति का लाभ निर्धारित होता है। उदाहरण के लिए यदि मजदूर 10 घंटे कार्य करे तो उसे 7 धंटे का ही वेतन मिलता है। इस अतिरिक्त 3 धंटे में उत्पादित मूल्य को पूँजीपति अपने पास रख लेते है और यही उसका लाभ है। पूँजीपति का पूरा ढांचा और पूँजीपति का सम्पूर्ण लाभ इसी अतिरिक्त मूल्य के शोषण पर टिका हुआ है। इसमें मजदूर शोषित होता है क्योंकि वही मूल्य का उत्पादन करता है और पूँजीपति ही शोषक है क्योकि वह बिना किसी योगदान के लाभ प्राप्त करता है।

मार्क्स कहता है कि पूँजीपति में अन्तर्विरोध निहित होता है। पूँजीपति अधिक ये अधिक लाभ की आशा करता है। इसलिए वह जिस अतिरिक्त मूल्य का शोषण करता है उसका पुनः पूँजी के रूप में निवेश करता है। इसके द्वारा नये मजदूरों को काम पर लगाया जाता है जो और अधिक कार्य कर अधिक मूल्य एवं अन्ततः अधिक अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन करते है। इस प्रक्रिया में उत्पादन में वृद्धि होती है। दूसरी और पूँजीवाद के विकास के साथ-साथ पूँजीपतियों के बीच प्रतिस्पर्धा भी बढ़ती जाती है। इस प्रतिस्पर्धा के फलस्वरूप पूँजीपति का लाभ घटता है क्योंकि प्रतिस्पर्धा का परिणाम कीमतों का कम होना है। लाभ के कम न होने देने के लिए मजदूरों का शोषण बढ़ा देते है। इससे मजदूरों की स्थिति खराब होती जाती है। समाज में वर्ग विभाजन भी स्पष्ट हो रहा होता है। अतः एक ऐसी स्थिति आती है जब अधिसंख्यक जनता मजदूर बन चुकी होती है। पूँजीपति अपना लाभ समाप्त नही कर सकता अतः स्वाभाविक रुप से मजदूर गरीब होते जाते है और मजदूरों की बढ़ती संख्या अन्ततः सम्पूर्ण समाज को गरीब बना देती है। मार्क्स इसे सर्वहाराकरण की प्रक्रिया कहता है। पूँजीवाद प्रगति करते हुए अतिउत्पादन की स्थिति में पहुँच जाता है। इस स्थिति से उद्योग धन्धे होने लगते है क्योंकि और उत्पादन की जरूरत ही नहीं रह जाती अब मजदूर बेकार होने लगते ऐसी स्थिति में मजदूरों के पास क्रांन्ति में अतिरिक्त और कोई चारा नहीं रह जाता। इस प्रकार मार्क्स ने अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त के आधार पर यह दिखाने का प्रयास किया है कि पूँजीवाद का अन्त अवश्यम्भावी है। अतः मजदूर क्रांन्ति को सफल ही होना है। पूँजीपति अपना लाभ नही छोड़ सकता क्योंकि उत्पादन के साधन को खड़ा करने में उसकी पूँजी लगती है वह शोषण भी नहीं छोड़ सकता क्योंकि यही शोषण उसके लाभ का आधार है। मार्क्स यह बताना चाहता है कि मजदूर क्रांन्ति पूँजीवाद का ही परिणाम है न कि मजदूरों की इच्छा का पूँजीवाद के शोषण की इस अनिवार्यता का आधार उत्पादन के साधनों का निजी स्वामित्व है। इसी

आधार पर मार्क्स यह कहता है कि साम्यवाद में शोषण को अनुपस्थिति होगी, क्योंकि उत्पादन के साधनों पर सामूहिक स्वामित्व होगा।

मार्क्स पर फ्रांसीसी समाजवाद का प्रभाव जैसा कि लेनिन ने कहा है मार्क्स के विचारो पर प्रारंभिक फ्रांसीसी समाजवाद का प्रभाव भी देखा जा सकता है। फ्रांस में 1789 की क्रांन्ति के बाद से ही समाजवादी विचारों की उत्पत्ति होने लगी थी। फ्रांसीसी क्रांन्ति में स्वतन्त्रता समानता और बंधुत्व का नारा दिया गया था। पर जिस प्रकार युरोप में औद्योगिक क्रांन्ति को लागू किया गया उसने इन मांगो को शब्द मात्र बनाकर छोड़ दिया। औद्योगिक क्रांन्ति के साथ साथ वे सभी बुराइयाँ भी सामने आती गई जिन्हें इसके साथ जोड़ा जाता है। औद्योगीकरण ने अमीरों तथा गरीबों के बीच की खाई को बढ़ाया। इसी के विरूद्ध प्रतिक्रया स्वरूप समाजवादी विचारों का जन्म हुआ। मार्क्स पेरिस में अपने प्रवास के दौरान इन विचारों के संपर्क में आया। सेंट साईमन, चार्ल्स फूरिए तथा एटियाने कैबेट जैसे प्रारभिक समाजवादीयों तथा प्रूदों जैसे सामाजिक अराजकतावादियों के प्रभाव के कारण मार्क्स ने यह मानना शुरू कर दिया कि सामाजिक समस्याओं की वजह पूँजीवाद स्वंय है। पूँजीवाद में शोषण अतंर्निहित है। यूरोप के इन सामाजवादियों ने यह माना कि औद्योगिक समाज के आगमन से समाज में कई प्रकार की समस्याएँ सामने आई। सामाजिक समस्याओं को इस नजर से देखने की प्रेरणा मार्क्स ने उन्ही से पाई। हालॉकि मार्क्स ने उन लोगों की तरह यह नहीं माना कि पूँजीपतियों को प्रेरणा देकर पूँजीवाद की समस्या का समाधान हो सकता है। पर यह भी सच है कि उन्हीं की प्रेरणा से मार्क्स ने इन समस्याओं को पहचानना शुरू किया। यह अलग बात है कि मार्क्स ने समाधान अलग दिया। वर्ग की अवधारण भी मार्क्स ने इन्ही फ्रांसीसी समाजवादियों से प्राप्त की तथा सामाजिक समानता का विचार भी मार्क्स ने उन्ही से प्राप्त किया।

12.8 युवा मार्क्स

मार्क्स को विश्व ने 1848 में प्रकाशित कम्यूनिष्ट मेनिफेस्टों से जाना। वर्गक संघर्ष तथा सर्वहारा क्रांन्ति के विचार ही मार्क्स की पहचान का आधार बने। हालाकि 1844 में ही मार्क्स ने एक पुस्तक के लेखन का प्रयास किया था पर यह पुस्तक छप नही पाई तथा 1920 के दशक तक विश्व को इस पुस्तक की जानकारी नहीं थी। यह मूलतः जर्मन भाषा में थी तथा 30 के दशक के प्रारंभ में इसे अंग्रेजी भाषा में प्रकाशित किया गया तथा Economic and Philosophical Manuscript of 1844 नाम दिया गया। इस पुस्तक में दिए गए विचार Communist manifesto एंव बाद की पुस्तकों में दिए गये विचारों से काफी भिन्न थे। इस दौर में मार्क्स कुछ हद तक आदर्शवादी था। युवावस्था के कारण उसमें व्यवहारिक अनुभव की कुछ कमी थी। वह दर्शन तथा हीगल के विचारों से प्रभावित था। इस दौर के मार्क्स के विचारों को देखकर उसे क्रांन्तिकारी कहने की अपेक्षा मानवतावादी कहना अधिक उचित होगा। यह मार्क्स उस मार्क्स से काफी भिन्न था जिसे अब तक विश्व ने जाना था अतः इसे तरूण मार्क्स का नाम दिया गया। तरूण मार्क्स मानव स्वतन्त्रता की बात करता है। यह महसूस करता है कि मनुष्य की स्वतन्त्रता नष्ट हो गई किन्तु यह इसका कारण किसी वर्ग विभेद में नहीं ढुँढता। यह मानना है कि पूँजीवाद के कारण मनुष्य अलगाव की एक प्रक्रिया से गुजर रहा है तथा यह अलगाव ही मनुष्य की स्वतंत्रता का नाश करता है। अलगाव की यह प्रक्रिया चार स्तरों पर चलती है।

1. उत्पादन के स्तर पर

2. प्रकृति के स्तर पर

3. समाज के स्तर पर

4. स्वंय के स्तर पर

1. उत्पादन के स्तर पर मनुष्य का अलगाव उत्पादन प्रक्रिया से उसे अलग कर देता है। पूँजीवाद में उत्पादन केन्द्रीकृत होता है एवं श्रम का विभाजन कर दिया जाता हैं यहाँ उत्पादन कई लोगों के सम्मिलित प्रयास का परिणाम होता है। जबकि पूँजीवादी व्यवस्था के पहले की सहायता से करता था। तथा एक वस्तु का उत्पादन एक कामगार स्वंय एवं अपने परिवार के दूसरे सदस्यों की सहायता से करता था। उत्पादन की सम्पूर्णता से जुड़ा होने के कारण उसे रचनात्मक सन्तुष्टि मिलती थी किन्तु पूँजीवाद में श्रम विभाजन के कारण यह उत्पादित वस्तु का एक छोटा सा हिस्सा ही बना पाता है, अतः रचनात्मक सन्तुष्टि का अनुभव नहीं कर पाता। दूसरी ओर पूँजीवाद के पहले उत्पादन स्थानीय उपभोग के लिए होता था, अतः एक मजदूर उत्पादित वस्तु को अपने आस-पास ही पाता था लेकिन पूँजीवाद में उत्पादित वस्तु दूर दूर तक जाती है। इन सभी कारणों से मनुष्य उत्पादन प्रक्रिया और अपने उत्पाद से अलग हो जाता है।

2. प्रकृति के स्तर पर मार्क्स कहता है कि पूँजीवाद में मनुष्य एक कृत्रिम वातावरण में कार्य करता है। चार दीवारों और एक छत के नीचे कैद इस व्यक्ति को यह पता नही होता कि बाहर क्या हो रहा है। पूँजीवादी उत्पादन प्रक्रिया के पहले की स्थितियों में मनुष्य प्रकृति गोद में कार्य करता था। वह खुली हवा में सांस ले सकता था, वृक्षों की छांव में आराम कर सकता था। लेकिन पूँजीवाद ने उसे प्रकृति से अलग कर दिया।

3. समाज के स्तर पर मार्क्स कहता है कि पूँजीवाद प्रतिस्पर्धा पर टिका है। यहाँ एक कामगार दूसरे कामगार से प्रतिस्पर्धा करता है। पहले इनके बीच सहयोग था। सभी अपने समुदाय से जुडे थे। जब कोई एक व्यक्ति बीमार हो जाता था तो दूसरे उसकी मदद करते थे। पर पूँजीवाद में यदि एक मजदूर बीमार होता है तो दूसरा मजदूर उसकी मदद करने की जगह उसकी नौकरी छीनने में लग जाते है। इस प्रकार मनुष्य का स्वार्थ उसे समाज से अलग कर देता है।

4. स्वंय से अलगाव - मार्क्स कहता है कि उत्पादन प्रक्रिया समाज प्रकृति आदि से अलगाव के कारण मनुष्य के भीतर एक पाप बोध घर करने लगता है यह पाप बोध उसे अलगाव के उच्चतम स्तर तक ले जाता है और वह स्वंय से अलग हो जाता है।

तरूण मार्क्स की मुख्य समस्या मनुष्य का यही परायापन अथवा अलगाव है। किन्तु इस मार्क्स के पास इस समस्या का कोई समाधान नहीं है। वह कहता है कि प्रतिस्पर्धा को हटाकर सहयोग को अपनाया जाना चाहिए, कृत्रिमता को हटाकर प्रकृतिक वातावरण में लौटना चाहिए। किन्तु यह कैसे होगा यह स्पष्ट नहीं है। इन्हीं कारणों से तरूण मार्क्स आदर्शवादी प्रतीत होता है, किन्तु यह भी सच है कि बीसवीं सदी के मार्क्स वादियों को जिनमें नवमार्क्स वादियों का प्रमुख स्थान है, अगर मार्क्स की किसी एक पुस्तक ने सर्वाधिक प्रभावित किया तो वह यही पुस्तक है।

अभ्यास प्रश्न
1.फ्रांस में की क्रान्ति किस सन में हुई ?
2.दुनिया के मजदूर एकजुट होकर किसने नारा दिया है ?
3. अब तक का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है किसने कहा है ?

4. मार्क्स की मृत्यु कहाँ हुई थी ?
5. मार्क्स को प्रसिद्धि दिलाने में किस पुस्तक का योगदान प्रमुख है ?

12.9 सारांश

उपरोक्त अध्ययन के उपरान्त हम यह समझ सकते है कि मार्क्स ऐसे सिद्धान्तकार के रूप में जाना जाता है जिसने समाज विज्ञानों में आर्थिक व्याख्या को महत्वपूर्ण स्थान दिलाया। इसके पहले सामाजिक व्याख्या के लिए धार्मिक, राजनीतिक, दार्शनिक आदि पद्धतियों का सहारा लिया जाता था। मार्क्स कहता है कि एक समाज वैसा ही होता है जैसी उसकी उत्पादन रीति होती है। यह जरूर कहा जाता है कि आर्थिक तत्वों पर हद से अधिक बल देकर मार्क्स का सिद्धान्त एक पक्षीय हो जाता है किन्तु इस तथ्य को भी स्वीकार किया जाना चाहिए, कि विभिन्न सामाजिक प्रक्रियाओं में आर्थिक प्रक्रिया का भी महत्वपूर्ण स्थान है और इसे महत्वपूर्ण बनाकर मार्क्स ने सामाजिक व्यवस्था की व्याख्या को समुन्नत ही बनाया है। दूसरी और मार्क्स पर यह भी आरोप लगाया जाता है कि ऐतिहासिक भौतिकवाद का उसका सिद्धान्त नियतिवाद को बढ़ावा देता है एवं मानव चेतना तथा मानव इच्छा के महत्व को शून्य कर देता है। कुछ हद तक मार्क्स में नियतिवाद का आभाष मिलता है इसे माना जाना चाहिए, किन्तु दूसरी और समतामूलक समाज की स्थापना एवं शोषण रहित समाज का स्वप्न देकर मार्क्स ने मानवतावाद को बढ़ावा ही दिया विशेष रुप से युवा मार्क्स के विचारों में इस मानवतावादी दृष्टिकोण को स्पष्ट रुप से देखा जा सकता है।

मार्क्स ने आने वाले समाज के सन्दर्भ में जो अपेक्षाएं रखीं थी, उसे इतिहास ने गलत सिद्ध कर दिया। मार्क्स के अनुसार क्रांन्ति ब्रिटेन में होनी थी किन्तु रूस में जाकर हुयी। चीन में तो क्रांन्ति की तो कोई सम्भावना ही नहीं थी, जबकि ऐसा हुआ। माओं ने एक कृषक समाज में क्रांन्ति की संभावना को सच कर दिखाया। अतः भविष्य के सन्दर्भ में मार्क्स के अनुमान गलत ही सिद्ध हुए। मार्क्स ने यह भी कहा था कि लोकतान्त्रिक माध्यम से समाज में बदलाव नही लाए जा सकते किन्तु 20वीं सदी में लोकतन्त्र की सर्वस्वीकृति एवं कल्याणकारी राज्य के हमारे अनुभव ने इस बात को गलत ही सिद्ध किया। सर्वहारा के अधिनायकतन्त्र के संदर्भ में मार्क्स का विचार भी पूरे विश्व में आलोचना का पात्र रहा है। टाटस्की ने यह कहा था कि सर्वहारा का अधिनायकतन्त्र जो लोकतान्त्रिक केन्द्रवाद के सिद्धान्त पर आधारित है अन्ततः तानाशाही में ही बदल जाता है। रूस के अनुभव एवं स्टालिन की कार्य पद्धति इस बात को सही सिद्ध करती है। सामाजिक शक्ति के सन्दर्भ में भी मार्क्स का विचार आलोचना का पात्र बनता रहा है। मार्क्स ने यह कहा था। कि किसी समाज में वही शक्तिशाली होता है जिसके पास आर्थिक शक्ति होती है। किन्तु मैक्स वेबर ने अपने सिद्धान्तों में यह साबित किया कि आर्थिक शक्ति सामाजिक शक्ति का केवल एक भाग है। सामाजिक प्रस्थिति एवं राजनैतिक शक्ति भी एक व्यक्ति को शक्तिशाली बना सकते हैं। राज्य के वर्ग चरित्र के संर्दभ में मार्क्स का विचार भी विवादों में रहा है। लूई बोनापार्ट के शासन के विषय में मार्क्स ने स्वतः यह माना था कि यह शासन वर्ग निरपक्ष था। यदि राज्य वर्ग शोषण के उपकरण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है तो ऐसा कैसे सम्भव था। भारतीय राज्य के सन्दर्भ में हम्जा अलवी तथा अनुपम सेन का अध्ययन भी इसे वर्ग घोषित करता है। अगर मार्क्स के विचारों पर उठने वाले विवादों को देखा जाए तो हम पाते है कि मार्क्स के बाद आने वाले हस सिद्धान्तकार ने मार्क्स की कुछ न कुछ बातों को नकारा तो साथ ही कुछ न कुछ नया जोड़ा भी। अतः मार्क्स की आलोचना के पर्याप्त बिन्दु मिल ही जाते है। पर मार्क्स का महत्व इस बात में है कि एक ऐसे समाज में जहाँ शोषण था, भेदभाव था, इसने लोगों को समता मुलक समाज का स्वप्न दिया तथा पीढ़ियों को समाजिक बदलाव के लिए प्रेरित किया यह कमोबेश मार्क्स का ही दबाव था जिसके कारण उदारवाद को अपना रास्ता बदलना पड़ा तथा

नकारात्मक से सकारात्मक स्वरूप में आना पड़ा। हाँलाकि कार्ल पॉवर ने मुक्त समाज के दुश्मनों में मार्क्स को भी रखा पर मार्क्स का सिद्धान्त तो वास्तविक स्वतंत्रता की ही तलाश कर रहा था। औद्योगिक पूँजीवाद की सभ्यता से स्वतंत्रता की अनुपस्थिति को ही मार्क्स दूर करना चाहता था। वास्तविक स्वतंत्रता की इसी आशा ने पीढ़ियों को मार्क्सवादी चेतना में प्रशिक्षित किया।

12.10 शब्दावली

परायापन अथवा अलगाव- किसी व्यक्ति के द्वारा अपने समाज,समूह, कार्यस्थल, अपने श्रम के उत्पाद और अंततः स्वयं से सम्बन्ध का न होना |

सर्वहारा – उत्पादन के स्वामियों के अतिरिक्त अन्य सभी सामूहिक रूप से |

ऐतिहासिक भौतिकवाद - ऐतिहासिक भौतिकवाद वस्तुतः इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या का प्रयास है

12.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. 1789 2. मार्क्स 3. मार्क्स 4..लंदन में 5.Communist Manifesto

12.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.राजनीतिक चिंतन की रूपरेखा - ओ0पी0 गाबा-मयूर पेपर बैक्स, प्रथम संस्करण-1996

2.आधुनिक राजनीतिक विचारों का इतिहास, चतुर्थ भाग-ज्योति प्रसाद सूद- के0 नाथ एण्ड कम्पनी, मेरठ, 1994-95

3.राजनीति कोश- डॉ0 सुभाष कश्यप, विश्व प्रकाश गुप्त, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, प्रथम संस्करण-1998

4.राजनीति सिद्धांत की रूपरेखा- ओ0पी0 गाबा-मयूर पेपर बैक्स, पंचम संस्करण-2001

5.राजनीति विज्ञान विश्वकोश- ओ0पी0 गाबा- नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली, प्रथम संस्करण-1998

12.13 सहायक /उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन – पी.डी. शर्मा

2.पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन – जीवन मेहता

12.14 निबंधात्मक प्रश्न

1.मार्क्स के द्वंद्वात्मक भौतिकवाद की व्याख्या कीजिये |

2. मार्क्स केएतिहासिक भौतिकवाद की विवेचना कीजिये |

3. मार्क्स के वर्ग संघर्ष संबंधी विचारों की व्याख्या कीजिये |